

भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता

पं. मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथीपथिक :



मूल्य ५०) मात्र





भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता

पं० मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथीपथिकः



मूल्य ५०) मात्र

प्रकाशक–
राजस्थान पत्रिका लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर।

द्वितीयावृत्ति—फरवरी, १९९७

ग्रन्थ-प्राप्ति–
पुस्तकालय, राजस्थान पत्रिका
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर।

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोध-संस्थान
"मानवाश्रम", दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–३०२०१८

मुद्रक–
श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय,
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड
जयपुर–१८

प्रकाशकीय

वेदवाचस्पति पं० मोतीलालजी शास्त्री कृत 'भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता' नामक इस लघुपुस्तिका का प्रकाशन करते हुए मुझे अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

स्व० शास्त्री जी ने मानव के तात्त्विक स्वरूप को अपने ग्रन्थों में बहुत महत्त्व दिया है और इसी क्रम में 'भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता' प्रथम खण्ड, भारतीय हिन्दू-मानव और मानवस्वरूप–मीमांसा' द्वितीय खण्ड, 'भारतीय हिन्दू-मानव और श्वेतक्रान्ति का महान् संदेश' तृतीय खण्ड एवं 'भारतीय हिन्दू-मानव और दिग्देशकालस्वरूप–मीमांसा' चतुर्थ खण्ड ये चार खण्ड विस्तार से लिखे हैं। प्रस्तुत लघुपुस्तिका भी उन्हीं का लघु-रूप होते हुए भी अपना अलग महत्व रखती है। यह पुस्तिका स्व० शास्त्री जी द्वारा सन् १९४७ में पब्लिक लायब्रेरी में दिये गए व्याख्यान पर आधारित है। 'भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता' नामक इस पुस्तिका का प्रकाशन स्व० शास्त्रीजी स्वयं ही कर गये थे, जो कि अब अप्राप्य है अतः इसे पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें हिन्दू-मानव की भावुकता, निष्ठा, निष्ठा-नीति आदि विषयों पर बहुत विस्तार से तात्त्विक साथ ही लोक-व्यवहारानुरञ्जक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

आशा है कि पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

वसन्त पञ्चमी
वि० सं० २०५३

कर्पूरचन्द्र 'कुलिश'

भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से किसी समय (महाभारत-समर से पहले) अवश्य ही निम्नलिखित प्रश्न किया होगा कि–"भगवन् ! युधिष्ठिर जैसे धर्म्मात्मा, भीम जैसे पराक्रमी, नकुल-सहदेव जैसे आज्ञाकारी एवं मेरे जैसा प्रतिज्ञापालक इस युग में (महाभारतयुग में) मिलना कठिन है। शास्त्र कहता है, 'यदि संसार में मानव को सुखी रहना है, तो उसे धर्म्मात्मा, पराक्रमी, अनुशासन से अनुशासित एवं प्रतिज्ञापालक होना चाहिए।' कहना न होगा कि हम पाँचों पाण्डवों में शास्त्र का यह आदेश अक्षरशः घटित हो रहा है, परन्तु देख रहे हैं कि शास्त्र के सुखसाधक उक्त आदेश का अक्षरशः पालन करते हुए भी पाण्डव उत्तरोत्तर दुःखी ही बनते जा रहे हैं। सांसारिक वैभव की कथा तो दूर रही, इन्हें तो अपने न्यायसिद्ध दायाद (पैतृक सम्पत्ति) से भी वञ्चित किया जा रहा है। ठीक इसके विपरीत कौरव दल एवं उसका नायक दुर्य्योधन धर्म्म-पराक्रम-अनुशासन-प्रतिज्ञा-पालन आदि-शास्त्रीय आदेशोपदेशों की सर्वथा उपेक्षा करता हुआ भी सांसारिक-सुखों का भोक्ता बन रहा है। सर्वगुणसम्पन्न पाण्डवों का दुःखी बने रहना एवं सर्वदोषसम्पन्न कौरवों का सुखी बने रहना, सचमुच एक जटिल समस्या है। समाधान कीजिए भगवन् ! इस समस्या का ?"

अर्जुन की उक्त सामयिक समस्या का भगवान् ने उस समय निश्चयेन निम्नलिखित समाधान किया होगा कि–"अर्जुन ! जानते हैं और मानते भी हैं कि पाण्डव धर्म्मात्मा हैं, पराक्रमी हैं, अनुशासनप्रिय हैं, प्रतिज्ञापालक हैं, फलतः सर्वगुणसम्पन्न हैं। इसके साथ ही हम यह भी अनुभव कर रहे हैं

कि कौरव अधर्म्मी हैं, उच्छृङ्खल हैं, फलतः सर्वदोषसम्पन्न हैं। यह भी मान्यता शास्त्रसिद्ध है कि सर्वगुणसम्पन्न-मानव को सुखी रहना चाहिए एवं सर्वदोषसम्पन्न-मानव को दुःखी रहना चाहिए। फिर गुणशाली पाण्डव दुःखी क्यों? एवं दोषों से लिप्त (दोषशाली) कौरव सुखी क्यों? सुनो!

पाण्डवों में जहां सब गुण ही गुण हैं, वहां उनमें सबसे बडा एक ऐसा दोष है, जिसके कारण उनके सब गुण दोषरूप में परिणत हो रहे हैं। फलतः इस महादोष से सर्वगुणसम्पन्न भी पाण्डव सर्वदोषसम्पन्न बनते हुए दुःखी हैं। उधर कौरवों में जहां सब दोष ही दोष हैं, वहां उनमें सबसे बडा एक ऐसा गुण है, जिसके कारण उनके सब दोष गुणरूप में परिणत हो रहे हैं। फलतः इस महागुण से सर्वदोषसम्पन्न भी कौरव सर्वगुणसम्पन्न बनते हुए सुखी हैं। अर्जुन! तू प्रश्न करेगा कि वह ऐसा कौनसा दोष है, जिसने पाण्डवों की गुणविभूति को आवृत कर उन्हें दुःखी बना दिया? एवं वह ऐसा कौनसा गुण है, जिसने कौरवों की दोषराशि को आवृत कर उन्हें सुखी बना दिया? उत्तर थोड़ा अटपटासा है, अतएव उसके मूलतथ्य पर पहुँचना थोड़ा कठिन है। अच्छा तो सुन! 'भावुकता' पाण्डवों का सबसे बडा दोष है एवं 'निष्ठा' कौरवों का सबसे बडा गुण है। भावुकता ने जहां तुम्हें (पाण्डवों को) सब गुण रहते भी दुःखी बनाया, वहां निष्ठा ने उन्हें (कौरवों को) सब दोष रहते भी सुखी बना दिया।

पार्थ, किन्तु भावुक अर्जुन ने भगवान् के उक्त समाधान का आध्यात्मिकमर्म्म तत्काल न समझा होगा, फलतः उसी समय वह प्रतिप्रश्न कर [illegible] ष्ट में भावुकता का सम्भवतः यही तात्पर्य्य होगा कि भावुकता नामक गुण मानव को दृढनिश्चयी नहीं बनने [illegible] प्रतिज्ञापालन में असमर्थ रहता है, [illegible] त ज्ञापालन की दृष्टि से भावुकता निरा दोष ही आकर ठहरता है। उधर निष्ठावान् मानव अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लेता है। यदि आपकी

दृष्टि में भावुकता का यही अर्थ है कि पाण्डव प्रतिज्ञापालक नहीं हैं, दृढ़-निश्चयी नहीं हैं, निष्ठावान् नहीं हैं, तो कहना पड़ेगा कि भगवन् ! पाण्डवों पर यह आरोप मिथ्या है। देखिए तो सही भगवन् ! धर्मराज युधिष्ठिर ने इसी प्रतिज्ञापालन के लिए वनवास के कष्ट हंसते-हंसते सह डाले। स्वयं मैंने (अर्जुन ने) इसी दृढ़निश्चय के प्रभाव से, जिसे आप निष्ठा कहते हैं, दुर्द्धर्ष तप के द्वारा ब्रह्मास्त्रादि प्राप्त किए, गुरुद्रोण के प्रतिद्वन्द्वी द्रुपदराज का गर्व खर्व किया, स्वयंवर में मत्स्यवेध कर द्रौपदी प्राप्त की, शस्त्रास्त्र-परीक्षा में चिड़िया के मस्तक को लक्ष्य बनाया। एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, ऐसे सैंकड़ों उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं, जिनसे प्रमाणित किया जा सकता है कि पाण्डवों की निष्ठा, उनका प्रतिज्ञापालन अटल-अडिग है। ठीक इसके विपरीत जिन कौरवों को आप निष्ठा-गुण से विभूषित बतला रहे हैं, उनके सम्बन्ध में सैंकड़ों उदाहरण ऐसे बतलाए जा सकते हैं, जिनके द्वारा कौरवों का प्रतिज्ञा से विमुख होना प्रमाणित हो रहा है। ऐसी स्थिति में पाण्डवों के दुःखी रहने का एवं कौरवों के सुखी रहने का आपने पूर्व में जो कारण बतलाया, क्षमा करेंगे भगवन् ! अर्जुन उसे स्वीकार नहीं कर सकता"।

भावुक अर्जुन के भावुकतापूर्ण उक्त प्रतिप्रश्न पर भगवान् ने क्षण भर के लिए मन्दहास किया होगा। और अपने इस भावुक प्रिय सखा के भावी कल्याण के लिए इससे कहा होगा कि "अर्जुन ! हमारे उत्तर से-विदित होता है-तू ! अप्रसन्न हो गया। मानते हैं, भावुक मानव यों ही क्षणे क्षणे तुष्ट रुष्ट हुआ करते हैं। इसीलिए तो हमने कहा है कि इस भावुकता ने ही पाण्डवों को दुःखी बनाया है। निष्ठावान् मानव कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित नहीं होता। वह एक ओर बडी से बडी स्तुति का जहाँ निगरण कर जाता है, वहाँ बडी से बडी निन्दा भी उसे विचलित नहीं कर सकती। निष्ठावान् मानव कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित होना जानता ही नहीं। क्यों ?

इसलिए कि निष्ठावान् मानव सदा 'स्व' को लक्ष्य बनाए रहता है। वह सदा अपने आपको देखता है। उसे सदा अपनी ही स्थिति की चिन्ता है। अपनी इसी स्थिति-रक्षा के लिए उसे सदा भूत-भविष्यत् को लक्ष्य बनाए रखना पड़ता है। वर्त्तमान की, किंवा वर्त्तमान से सम्बद्ध प्रत्यक्ष स्थिति की वह सदा उपेक्षा किया करता है। उसके कोश में 'परोपकार' शब्द का अभाव है। परार्थ, किंवा परमार्थ का इस स्वार्थी निष्ठावान् की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। यह उसी सीमा तक परार्थ-परमार्थ का अभिनय किया करता है, जिस सीमा का विशुद्ध स्वार्थ से सम्बन्ध रहता है। स्वार्थ सिद्ध होने के अव्यवहितोत्तर क्षण में ही यह स्वार्थघातक परार्थ-परमार्थ-कर्म्मों की उपेक्षा कर देता है। और कहना न होगा कि भूत-भविष्यदनुगामी ऐसा निष्ठावान् मानव सदा सुखी रहता है। अर्जुन! तू स्वयं विचार कर, क्या पाण्डव ऐसी निष्ठा के अनुगामी रहे हैं? क्या उन्होंने कभी भूत-भविष्यत् के परिणाम को लक्ष्य बनाया है? क्या कभी उन्होंने प्रत्यक्ष स्थिति से अपने आपको प्रभावित होने से बचाया है? यदि नहीं, तो तू ही बता ऐसे भावुक पाण्डव कैसे सुखी रहते? तू कहेगा ऐसे उदाहरण बतलाइए भगवन्! जिनसे पाण्डवों की उक्तलक्षणा भावुकता प्रमाणित हो रही हो? अर्जुन! पाण्डवों का सम्पूर्ण जीवन ही इन उदाहरणों का प्रतीक बना हुआ है। तुझ भावुक की आत्मतुष्टि के लिए कुछ एक उदाहरण उद्धृत कर दिए जाते हैं—

द्यूतकर्म्म से प्रभावित धर्म्मभीरु युधिष्ठिर ने प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर सती द्रौपदी को दाव पर लगा दिया, द्यूत जैसे निन्द्य कर्म्म के साथ प्रतिज्ञापालन जैसे धर्म्मतत्त्व का ग्रन्थिबन्धन करने की भावुकता (किंवा भूल) करते हुए युधिष्ठिर ने अपना राज्य खो दिया। अज्ञातवास में गन्धर्व द्वारा उत्पीड़ित दुर्य्योधन का तेरे द्वारा परित्राण करा युधिष्ठिर ने शत्रुबल की अभिवृद्धि की। प्रत्यक्ष प्रभाव से प्रभावित युधिष्ठिर ने यों स्वयं अपना भी अनिष्ट किया, साथ ही सङ्गदोष से प्रभावित धर्म्मभीरु बने हुए तुम अन्य पाण्डवों को भी दुःखी बनाया। अर्जुन! तू सोच रहा होगा कि युधिष्ठिर

ने असावधानी की होगी, किन्तु मैंने नहीं। सुनो ! स्मरण है तुझे, जब युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ वार्त्तालाप में एकान्त में संलग्न थे। तेरा गाण्डीव वहीं रक्खा था। एक ब्राह्मण की तस्करसे रक्षा करने के लिए तेरा जी छटपटाने लगा। तैंने युधिष्ठिर भवन में प्रवेश किया, गाण्डीव उठाया, ब्राह्मण की तस्कर से रक्षा की और इस प्रत्यक्षानुगता भावुकता में पड़कर तुझे चौदह वर्षों के लिए अन्तर्हित हो जाना पड़ा और सुन ! कौरव-पाण्डव सैन्यदल को सम्मुख उपस्थित देखकर इस प्रत्यक्ष से तू पूर्णरूपेण प्रभावित हो गया। क्षात्रनिष्ठा के सर्वथा विपरीत 'न योत्स्ये' कहकर तैंने गाण्डीव ही छोड दिया। अर्जुन ! अब तो तुझे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वास्तव में हम पाण्डव भावुक थे एवं यह भावुकता ही हमारे सांसारिक दुःख का मूल कारण थी"।

श्रीकृष्णार्जुन से सम्बद्ध उक्त प्रश्नोत्तर-विमर्श के द्वारा जिस भावुकता तथा निष्टा का स्वरूप-दिग्दर्शन कराने की चेष्टा हुई है-वह वर्त्तमान मानव के परितोष का कारण इसलिए नहीं बन सकती कि उसके वेशभूषा-भाषा-सस्कृति-सभ्यता-आचार-व्यवहार आदि आज अपने प्राच्य आदर्श की उपेक्षा कर प्रतीच्यपथानुगामी बन गए हैं अथवा तो बनते जा रहे हैं, अतएव आवश्यक है कि वर्त्तमान युग के मानव के परितोष के लिए उसी की सहज-गम्य वर्त्तमान भाषा (हिन्दुस्तानी) के द्वारा उसे उसकी उस भावुकता का दिग्दर्शन कराया जाय, जिस भावुकता ने वर्त्तमान मानव को विशेषतः हिन्दू-मानव को संत्रस्त बना रक्खा है। दिग्दर्शन से पहले दो शब्दों में भावुकता के मौलिक इतिहास पर भी दृष्टि डाल लेना अप्रासङ्गिक न होगा जिस मौलिकता का सृष्टि के मूलतत्त्वों से सम्बन्ध माना गया है।

सम्पूर्ण विश्व एक 'स्थिति' भाव है, जिसके लिए-'संसार है'—इस वाक्य का सर्वसाधारण में प्रयोग होता-देखा-सुना जाता है। स्थितितत्त्व सापेक्षतत्त्व है। दो विरुद्ध तत्त्वों के समन्वय से ही 'स्थिति' तत्त्व की स्वरूप-रक्षा मानी गई है। गतिविज्ञानवेत्ताओं ने इस सम्बन्ध में अपने ये विचार

प्रकट किए हैं कि विरुद्ध दिगनुगामिनी दो, अथवा तो अनेक गतियों के केन्द्रीकरण से ही 'स्थिति' का भाव प्रादुर्भाव होता है। जिसे लोकभाषा में 'स्थिति' कहा जाता है, तत्त्वतः वह 'स्थिति' अनेक विरुद्ध दिगनुगामिनी गतियों की समष्टिमात्र है। सिद्ध है कि 'विश्वस्थिति' का स्वरूप भी अवश्य ही दो विरुद्ध गतियों के एकत्र समन्वय से ही प्रादुर्भूत हुआ है। इन दोनों विश्वगतियों को जिनसे 'विश्वस्थिति' का स्वरूप निर्म्माण होता है-हम थोड़ी देर के लिए पूर्वगति-उत्तरगति नाम से युक्त मान लेते हैं। पूर्वगति अतीतगति है, उत्तरगति भविष्यत्-गति है। इन दोनों विरुद्ध गतियों से उभयतः परिगृहीता मध्यस्था विश्वस्थिति है, जिसे 'वर्त्तमानगति' भी कहा जा सकता है। भूतानुगामिनी पूर्वगति, भविष्यदनुगामिनी उत्तरगति-इन दो विरुद्ध गतियों से ही वर्त्तमानानुगामिनी मध्यगतिलक्षणा विश्वस्थिति का स्वरूप सुरक्षित रहता है। इन्हीं दो विरुद्ध नियतिभावों के सम्बन्ध से विश्व 'द्विनियति' कहलाया है, जिसका विकृतरूप ही लोकभाषा में 'दुनिया' (द्विनियति) नाम से प्रसिद्ध है। इसी विरुद्ध दिग्द्वयगति के आधार पर-'दुनिया दुरङ्गी' नामकी किंवदन्ती प्रतिष्ठित है। प्रकृत वक्तव्यांश यही है कि स्थितिलक्षण विश्व के उस ओर पूर्वगति (भुक्तगति) है, इस ओर उत्तरगति (भोग्यगति) है। भुक्तगति विश्व की पूर्वावस्था है, यही भूतकाल है। भोग्यगति विश्व की उत्तरावस्था है, यही भविष्यत्-काल है। उभयकालमध्यस्था विश्वस्थिति विश्व की मध्यावस्था है, यही वर्त्तमानकाल है एवं यह वर्तमानकाल ही मानव की वह मूलप्रतिष्ठा है, जिसे आधार बना कर हमें भावुकता का सहज भाषा में विश्लेषण करना है।

१-पूर्वगतिः→भुक्तगतिः→अतीतगतिः
२-मध्यगतिः→भोक्तृगतिः→वर्त्तमानगतिः } →विश्वस्थितिः
३-उत्तरगतिः→भोग्यगतिः→भविष्यद्गतिः

मानव, विशेषतः वर्तमान युग का हिन्दू-मानव दुःखी क्यों ? यह मूल प्रश्न है। इस मूल प्रश्न का अभिनय–'कहाँ का-कौन-दुःखी क्यों' ? इस वाक्य से भी किया जा सकता है। कहाँ का ? इस वाक्यावयव का उत्तर अभी हम 'विश्व' शब्द से देंगे। 'कौन' का उत्तर 'हम' शब्द से दिया जायगा, एवं क्यों ? का उत्तर होगा 'भावुकता'। तात्पर्य्य यह होगा कि 'विश्व में रहने वाले हम (मानव) भावुकता से दुःखी हैं। विश्व, हम, भावुकता'–ये तीन ही तत्त्व विचारणीय हैं, जिनमें से पहले 'विश्व' तत्त्व का ही पूर्व में दो शब्दों में उपबृंहण हुआ है। इसी विश्व के गर्भ में 'हम' नामक मानव प्रतिष्ठित है। सुख अथवा तो दुःख दोनों का भोग 'हम' को विश्व-प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ही करना है।

बतलाया गया है कि प्रतिष्ठात्मक विश्व के साथ भूत-वर्त्तमान भविष्यत्–इन तीन विभिन्न कालों का सम्बन्ध है। 'हम' नामक मानव प्राणी यद्यपि प्रतिष्ठित है वर्त्तमानकालानुगत स्थितिलक्षण विश्व पर ही। तथापि मध्य प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होने के कारण इसके साथ में विश्व के पूर्व-उत्तर भावों से सम्बद्ध भूत-भविष्यत् का भी सम्बन्ध अनिवार्य्य बन जाता है। स्पष्टीकरण के लिए विषय का यों समन्वय कीजिए कि विश्वाधार पर प्रतिष्ठित कुछ एक मानव तो ऐसे हैं, जो केवल अपने आधारभूत वर्त्तमान को ही लक्ष्य बनाए रहते हैं। इनकी दृष्टि में भूत-भविष्यत् का कोई महत्त्व नहीं है। विश्वाधारात्मक वर्त्तमान में प्रतिष्ठित रहते हुए भी कतिपय मानव ऐसे हैं, जो न वर्त्तमान को देखते न भविष्यत् का चिन्तन करते। अपितु वे सदा भूतकालिक चिन्ता में ही व्यस्त रहते हैं। ऐसे भी मानवों की कमी नहीं जो भूत-वर्त्तमान की उपेक्षा कर केवल भविष्यत् की ही उपासना किया करते हैं। सद्भाग्य से परिगणित ऐसे भी सिद्ध मानव यदा कदा उपलब्ध हो जाते हैं, जो भूत-वर्त्तमान-भविष्यत्, तीनों का समन्वय करते हुए तीनों को लक्ष्य बनाए रहते हैं। इस प्रकार मानव समाज (हम) अपनी मूल-प्रतिष्ठा (विश्व) के त्रैकालिक सम्बन्ध के तारतम्य से चार श्रेणियों में

विभक्त किया जा सकता है। भूतकालानुगामी, वर्त्तमानकालानुगामी, भविष्यत्-कालानुगामी, सर्वकालानुगामी—मानवसमाज का इन चार ही श्रेणियों में वर्गीकरण किया जा सकता है। देखते हैं और अनुभव करते हैं कि कितने एक मानव पिछली बातों की याद में ही अहर्निश तल्लीन रहते हैं। 'अमुक ने अमुक समय हमें यों कह दिया था, उसने हमारा ऐसा इष्ट-अनिष्ट कर दिया था'—इत्यादि अतीत घटनाओं की चर्वणा में ही उन अतीतभक्तों का समय निकल जाता है। कितने एक मानव अपनी कल्पना के आधार पर भविष्यत् की विविध कल्पनाओं का सृजन किया करते हैं। ऐसा करेंगे तो ऐसा हो जायगा, हम ऐसे बन जायँगे वैसे बन जाएँगे' इन भावी कल्पनाओं में ही इन भविष्यद्भक्तों का समय निकल जाता है। ऐसे भी मानवों की कमी नहीं, जो न अतीत के अवाच्यवादों का स्मरण करते, नाहीं भविष्य के लिए थोथी कल्पनाएँ ही करते—अपि तु, अनन्यनिष्ठा से वर्त्तमान को ही लक्ष्य बनाते हुए—'करले सो काम-भजले सो राम' को चरितार्थ करते रहते हैं। विश्व-राष्ट्र-नगर-ग्राम तथा जाति के सौभाग्य से कभी-कभी ऐसे भी सिद्ध महापुरुषों के साथ साक्षात्कार हो जाता है, जिनकी कार्य्यप्रणाली में तीनों कालों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। ऐसे सिद्धपुरुष अतीत को स्वकर्म्म की आधारशिला बनाते हैं, भविष्यत् के परिणाम को सम्मुख रखते हैं और तब वर्त्तमान कर्म्मकलाप में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार अन्वेषण करने पर मानवसमाज इन्हीं तथाकथित चार श्रेणियों में विभक्त उपलब्ध हो रहा है—

१—भूतकालानुगामी————लक्ष्यभ्रष्टो मानवः

२—वर्त्तमानकालानुगामी——जीवनयात्रानिर्वाहको मानवः

३—भविष्यत्कालानुगामी——समृद्धिशाली मानवः

४—सर्वकालानुगामी————कृतकृत्यो मानवः

'कहाँ का कौन दुःखी क्यों' ? पूर्वनिर्दिष्ट इस प्रश्नवाक्य के 'कहाँ' से सम्बन्ध रखने वाले आधारभूत 'विश्व' की अपेक्षा से मानव समाज के

चार श्रेणि-विभागों का दिग्दर्शन कराया गया। अब इसी प्रश्न वाक्य के दूसरे 'कौन' शब्द की अपेक्षा से श्रेणि-विभाग का समन्वय कीजिए। समान-गुणधर्म्मानुगामी मानव समाज ही प्रकृत में 'कौन' है, जिसका पूर्व में 'हम 'शब्द से अभिनय हुआ है। प्रश्न होता है कि–'समानगुणधर्म्मा मानवों में पूर्वनिर्दिष्ट श्रेणिविभाग कैसे हो गया'? इस प्रश्न का उत्तर 'हम' नामक मानव के आध्यात्मिकस्वरूपज्ञान पर अवलम्बित है। कालविशेष के द्वारा सुखदुःखादि विशेषभावों का अनुगमन करते वाले इस 'हम' (मानव) का क्या स्वरूप? प्रश्न का समाधान करते हुए वैज्ञानिकों ने हमें बतलाया कि–'आत्मा, बुद्धि, इन्द्रियसहितमन, शरीर–इन चार आध्यात्मिक पर्वों की समष्टि ही 'अहम्' किंवा 'हम' है ❀। और यही 'मानव' का वह तात्त्विकस्वरूप है, जिसके साथ हमें मानव के चार श्रेणि-विभागों का समन्वय करना है।

यद्यपि प्रत्येक मानवसंस्था में आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर–इन चारों पर्वों का समावेश है एवं इसी दृष्टि से मानवमात्र को समानधर्म्मा भी माना जा सकता है। तथापि जन्मान्तरीय विद्या-काम-कर्म्म, नामक शुक्रत्रयी के भेद से मानव की इन चारों संस्थाओं की प्रधानता-अप्रधानता में तारतम्य हो जाता है। इसी तारतम्य से समान भी मानवों की योग्यता में, गुण-धर्म्मों में तारतम्य हो जाता है। किसी मानव में शरीरसंस्था का प्राधान्य रहता है, शेष तीनों (आत्मा-बुद्धि-मन) गौण बने रह जाते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि शरीरपक्षपाती उस मानव का आत्मा-बुद्धि-मन तीनों एवं तीनों के व्यापार शरीरव्यापार के ही अनुगामी बने रहते हैं। उसकी आत्मानुगता निष्ठा, बुद्ध्यनुगत विश्वास, मनोऽनुगता श्रद्धा–तीनों शरीरचिन्ता में ही आहुत रहते हैं। मर्त्य-क्षर-भूत परमाणुओं का संघरूप मर्त्य-पाञ्च भौतिक शरीर क्षणिक बनता हुआ 'नास्ति'सार है। प्रतीक्षाभावानुगत वर्त्तमान, आशाभावानुगत भविष्य–दोनों से इस नास्तिसार शरीर का मेल नहीं होने

❀ "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" कठोपनिषत् १।३।४।

पाता। इसका सम्बन्ध रहता है एकमात्र नास्तिसार 'अतीत' से। इस प्रकार आत्म-बुद्धि-मनोगर्भितनास्तिसार क्षणिक शरीर के पक्षपाती मानव ही भूतकालानुगामी अतएव लक्ष्यभ्रष्ट मानव कहलाए हैं। यही मानव समाज का प्रथमवर्ग है।

किसी मानव में इन्द्रिययुक्ता मनःसंस्था का प्राधान्य रहता है, शेष तीनों (आत्मा-बुद्धि-शरीर) गौण बने रह जाते हैं। परिणाम यह होता है कि मनः पक्षपाती उस मानव का आत्मा, बुद्धि, शरीर-तीनों तथा तीनों के व्यापार मनोव्यापार के ही क्रीतदास बने रहते हैं। उसकी आत्मानुगता निष्ठा, बुद्ध्यनुगत विश्वास, शरीरानुगता पुष्टि-तीनों मानसचिन्ता में ही आहुत रहते हैं। इन्द्रिययुक्त मन का क्षेत्र है-ऐन्द्रियक बाह्यविषय। बाह्य विषयों का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्षानुभूति के द्वारा इन्द्रिय-पृष्ठ से संलग्न मन बाह्य विषयों का संस्काररूप से अनुभव किया करता है। इस प्रकार परम्परया मानसव्यापार उस बाह्य-इन्द्रियक प्रत्यक्षजगत् से सम्बद्ध है, जो प्रत्यक्षजगत् वर्त्तमानकाल का अनुगामी बना रहता है। वर्त्तमान विषय ही प्रत्यक्ष विषय हैं एवं ये ही मनोव्यापार के आधार हैं। फलतः इस इन्द्रिययुक्त मन का वर्त्तमानकाल से भली-भांति सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आत्म-बुद्धि-शरीरगर्भित इन्द्रिययुक्तमन के पक्षपाती मानव को अवश्य ही वर्त्तमानकालानुगामी, अतएव जीवनयात्रानिर्वाहक मानव कहा जा सकता है। यही मानव समाज का द्वितीय वर्ग है।

कितने एक मानवों में बुद्धितत्त्व प्रधानरूप से विकसित रहता है, शेष तीनों (आत्मा-मन-शरीर) गौण बने रहते हैं। इस बुद्धिप्राधान्य का फल यह होता है कि बुद्धिपक्षपाती इस मानव के आत्मा-मन-शरीर तथा इन तीनों के निष्ठादि तीनों व्यापार बुद्धिव्यवसाय के ही यथानुगामी बने रहते हैं। बुद्धिमान् मानव की आत्मनिष्ठा, मानसीश्रद्धा, शरीरपुष्टि-तीनों बुद्धियज्ञाग्नि (ज्ञानाग्नि) में ही आहुत होते रहते हैं। विज्ञान नाम से प्रसिद्ध

बुद्धि एवं प्रज्ञान नाम से प्रसिद्ध मन के व्यापारों का दिग्दर्शन कराते हुए तत्त्ववेत्ताओं ने हमें बतलाया है कि प्रज्ञानमन पर इन्द्रियों के द्वारा विषय (संस्कार) जहाँ आया करते हैं, वहाँ विज्ञानबुद्धि विना भी इन्द्रियों के, विषयों पर जाया करती है। विना विषय के मनोव्यापार सर्वथा अवरुद्ध है। परन्तु बुद्धि अपने ज्ञानकोष के द्वारा शून्य में भी नवीन विषयों का निम्मर्णि कर लेती है। जो विषय न अतीत में थे, न वर्त्तमान में हैं। जिनका आधार केवल भविष्य की कल्पनामात्र है। बुद्धि वैसे भावी काल्पनिक जगत् को आधार बनाकर स्वव्यापार प्रसार में समर्थ हो जाती है। वर्त्तमानयुग के मानवतासंहारक जो भौतिक आविष्कार अतीत में केवल भविष्य की वस्तु थे, वे सब कल्पनाशीला बुद्धि के इस काल्पनिक व्यवसाय के ही कटु परिणाम हैं। फलतः बुद्धिका भविष्यत् काल के साथ सर्वात्मना सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आत्म-मनः-शरीरगर्भिता बुद्धि के पक्षपाती मानव को अवश्य ही भविष्यत्कालानुगामी, अतएव समृद्धिशाली मानव कहा जा सकता है। यही मानव समाज का तृतीय वर्ग है।

कितने एक पुरुषपुङ्गवों में आत्मतत्त्व प्रधानरूप से विकसित रहता है, शेष तीनों (बुद्धि-मन-शरीर) गौण बने रहते हैं। इस आत्मप्राधान्य का सुफल यह होता है कि आत्मयाजी इस सर्वज्ञ-सर्ववित्-सिद्ध मानव के बुद्धि-मन-शरीर एवं इन तीनों के विश्वासादि तीनों व्यापार आत्मनिष्ठा के ही अनुगामी बने रहते हैं। आत्मयाजी इस सिद्ध मानव का बौद्ध विश्वास, मानसी श्रद्धा, शरीरपुष्टि–तीनों इसके ब्रह्माग्नि (आत्माग्नि) में ही आहुत होते रहते हैं। बुद्धि का भविष्यत् के साथ, मन का वर्त्तमान के साथ एवं शरीर का भूत के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है। मानव के तीनों पर्व तीनों कालों से सीमित हैं, अतएव तीनों में एक भी त्रैकालिक नहीं है। उधर आत्मदेवता–'यच्चान्यत् त्रिकालातीतम्'–के अनुसार कालसीमा से बहिर्भूत रहता हुआ त्रैकालिक अतएव सार्वकालिक सनातनतत्त्व है। इन्हीं सब कारणों से मानना पड़ता है कि मानवसंस्था में मुक्त आत्मपर्व का सर्वकाल

से घनिष्ट सम्बन्ध है। इस प्रकार बुद्धि-मन-शरीरगर्भित आत्मा के पक्षपाती मानव को अवश्य ही सर्वकालानुगामी अतएव कृतकृत्य मानव कहा जा सकता है। यही मानव समाज का चौथा वर्ग है।

मानवाधारभूत कालिक विश्व के भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान-सर्व नामक चार पर्वों के साथ मानव समाज के चार वर्गों का कैसे समन्वय है? एवं मानव समाज कैसे चार श्रेणि–विभागों में विभक्त हुआ? इन दोनों प्रश्नों के तात्त्विक समन्वय की चेष्टा की गई। मानव समाज के इन चार वर्गों में से प्रारम्भ के तीन वर्गों को शास्त्रीय परिभाषा में लौकिक यथाजात मानव कहा गया है एवं अन्त के सर्वकालानुगामी मानव को संस्कृत मानव माना गया है। संस्कृत मानव उसे कहा जायगा, जो अपने जीवन में अपनी मानव-संस्था के आत्मा-बुद्धि-मन-शरीर–इन चारों पर्वों को कृतकृत्य बना देगा। भारतीय महर्षियों ने इन चार पर्वों को कृतकृत्य बनाने के लिए चार साधन माने हैं, जो साधन शास्त्रीय परिभाषा में 'पुरुषार्थ' नाम से प्रसिद्ध हैं। धर्म्म-अर्थ-काम-मोक्ष–ये चार पुरुषार्थ-सुप्रसिद्ध हैं। मानव के शरीर की कृतकृत्यता का साधन 'अर्थ' नामक पुरुषार्थ है। मन की कृतकृत्यता का साधन 'काम' नामक पुरुषार्थ है। बुद्धि की कृतकृत्यता का साधन 'धर्म्म' नामक पुरुषार्थ है एवं आत्मा की कृतकृत्यता का साधन 'मोक्ष' नामक परमपुरुषार्थ है। इन चारों साधनों का समकालिक-विधि से अनुगमन करले वाला शास्त्रनिष्ठ मानव अपने चारों मानव पर्वों को कृतकृत्य बनाता हुआ सचमुच सर्वात्मना कृतकृत्य बन जाता है और यह श्रेय वर्णाश्रमानुगामी एकमात्र भारतीय द्विजाति को ही प्राप्त है।

अब शेष रह जाते हैं लौकिक-यथाजात-मानवों के तीन वर्ग। केवल शरीरोपासक मानव क्षणधर्म्मसम्बन्ध से सदा लक्ष्य भ्रष्ट बना रहता है। मनोऽनुगत इन्द्रियोपासक मानव केवल जीवन-यात्रा-निर्वाह का ही साधक बन सकता है। हाँ, बुद्धयनुगामी मानव लोकदृष्टि से कुछ दिन के लिए समृद्धि-

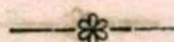
शाली अवश्य बन जाता है। परन्तु अवैधपद्धति से अपने बुद्धिबल के प्रयोग के कारण परिणामतः यह भी अशान्त ही रहता है। यही नहीं, इस परिणाम-दृष्टि से तो यह मनोऽनुगत, तथा शरीरोपासक मानव की अपेक्षा भी कहीं अधिक संत्रस्त रहता है। मानव समाज के कालानुगत इन चारों मौलिक श्रेणिविभागों को लक्ष्य बनाइए और इनके आधार पर इनके दुःखी रहने के कारणभूत साधनों पर दृष्टि डालिए—

१–बुद्धि-मनः-शरीरगर्भितः–'**आत्मा**'–तत्प्रधानो मानवः–सर्वकालानुगामी निष्ठावान् कृतकृत्यः।

२–आत्म-मनः-शरीरगर्भिता–'**बुद्धिः**'—तत्प्रधानो मानवः–भविष्यत्-कालानुगामी विश्वासी समृद्धिशाली।

३–आत्म-बुद्धि-शरीरगर्भितम्–'**मनः**'–तत्प्रधानो मानवः–वर्त्तमान-कालानुगामी श्रद्धालुर्जीवनयात्रानिर्वाहकः।

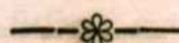
४–आत्म-बुद्धि-मनोगर्भितम्–**शरीरम्**–तत्प्रधानो मानवः–भूतकालानुगामी भावुको लक्ष्यभ्रष्टः।



उक्त चार मानव-विभागों का हम लोकदृष्टि से भावुक-विश्वासी-निष्ठावान्–इन तीन भागों में ही वर्गीकरण इसलिए मानेंगे कि चौथे भावुक-वर्ग का तीसरे श्रद्धालुवर्ग में ही अन्तर्भाव हो जाता है। श्रद्धालु मानव ही भावुक हुआ करता है, किंवा भावुक मानव ही श्रद्धालु हुआ करता है। इस प्रकार वर्त्तमानकालानुगामी मनोऽनुगत श्रद्धालु मानवविभाग के भूतकालानुगामी भावुक मानवविभाग में अन्तर्भाव हो जाने से मानवविभाग के निष्ठावान्-विश्वासी-भावुक–ये तीन ही प्रधान विभाग रह जाते हैं। शास्त्रदृष्टि पृथक् वस्तुतत्त्व है, लोकदृष्टि विभिन्न पथ है। निष्ठावान् मानवविभाग का चूंकि पूर्वकथनानुसार शास्त्रदृष्टि से सम्बन्ध है। प्रकृत में विचार अपेक्षित है–

लोकदृष्टयनुगत हिन्दू मानव समाज का। इस मीमांस्य लौकिक विषय की दृष्टि से हमारे सम्मुख केवल विश्वासी तथा भावुक–ये दो ही विभाग शेष रह जाते हैं। जैसे भावुक का श्रद्धालुवर्ग में अन्तर्भाव कर लिया जाता है, एवमेव निष्ठावान् का विश्वासी में अन्तर्भाव हो जाता है। कारण स्पष्ट है। जैसे श्रद्धालु भावुक बना करता है वैसे विश्वासी ही निष्ठावान् बना करता है। निष्ठा और विश्वास दोनों सजातीय धर्म्म हैं। एवमेव श्रद्धा और भावना दोनों सजातीय हैं। इसी सजातीयता के कारण अन्ततोगत्त्वा उक्त चार श्रेणिविभागों के निम्नलिखित दो ही श्रेणिविभाग रह जाते हैं, जिन्हें आधार बनाकर हमें हिन्दू-मानव की भावुकता की मीमांसा करती है—

१–सर्वकालानुगामी निष्ठावान् २–भविष्यत्कालानुगामी विश्वासी	→निष्ठानुगतो विश्वासी–मानवः (१)–नित्यसुखी
३–वर्त्तमानकालानुगामी श्रद्धालुः ४–भूतकालानुगामी भावुकः	→श्रद्धानुगतो भावुको–मानवः (२)–नित्यदुःखी



हिन्दू-मानव को ही क्या, सम्पूर्ण विश्व के मानव समाज को इन्हीं दो भागों में विभक्त माना जा सकता है। प्रारम्भ में ही बतलाया गया है कि संसार एक स्थिति है एवं स्थिति का ही नाम 'वर्त्तमान' है। वर्त्तमान का स्वरूप द्वन्द्व-सापेक्ष है। भूत-भविष्यत् ही वह द्वन्द्व है, जिससे वर्त्तमान-लक्षणा विश्वस्थिति की स्वरूपरक्षा हो रही है और यह भी विधि का एक विचित्र ही विधान माना जाएगा कि विश्वस्थिति के लिए दोनों कालों (भूत-भविष्यत्) से सम्बद्ध उभयविध मानव विभाग सदा आपेक्षिक बने रहेंगे। यदि यच्चयावत् मानव निष्ठावान्, साथ ही भावुक भी बन जाते, दूसरे

शब्दों में यदि निष्ठा और भावुकता का समन्वय हो जाता तो विश्व की स्थिति ही अरक्षित बन जाती। इस समन्वयदशा में या तो मानव समाज संघर्ष में पड़कर विश्वस्थिति का संहारक बन जाता अथवा तो ऐसे मानव-समाज के द्वारा विश्व एक अमरधाम (स्वर्ग) ही बन जाता। वैसा होता, तो ऐसा हो जाता, छोड़िए इन भावुकताओं को। जैसा जो कुछ है, हो रहा है, उस पर दृष्टि डालिए। लोकदृष्टि से सम्बद्ध भावुक तथा निष्ठावान् मानव-विभागों के इतिहास से पहले हमें भावुकता तथा निष्ठा शब्दों के सहज अर्थ का विचार करना है। मानसव्यापार का नाम जहाँ भावुकता है, वहाँ बुद्धिव्यापार का नाम निष्ठा है। मन का निर्म्माण ऋतसोमघन-चन्द्रमा से हुआ है। चान्द्र-सोम स्वस्वरूप से भी द्रवीभूत एक अस्थिर द्रव्य है, साथ ही सोमात्मक चन्द्रमा खगोलीय स्थिति के अनुसार भी परिवर्त्तनशील बनता हुआ अस्थिर है। ऐसे अस्थिर चान्द्रसोम से ओषधि द्वारा उत्पन्न चान्द्र मन की अस्थिरता भी स्वतःसिद्ध है। फलतः मानसव्यापारलक्षणा भावुकता भी मानव का एक अस्थिर धर्म्म ही आ ठहरता है। इसी आधार पर मानस-व्यापारात्मिका इस भावुकता के लिए शास्त्रों में 'अस्थिरप्रज्ञता' शब्द व्यवहृत हुआ है। बुद्धि का निर्म्माण सत्याग्निघन सूर्य्य से हुआ है। सौर सावित्राग्नि स्वस्वरूप से भी घनीभूत एक स्थिर पदार्थ है, साथ ही अग्न्यात्मक सूर्य्य खगोलीय स्थिति के अनुसार भी—'मध्ये एकल एव स्थाता' के अनुसार स्वस्थान पर अविचाली रूप से प्रतिष्ठित होता हुआ स्थिर है। ऐसे स्थिर सौर-अग्नि से वनस्पति द्वारा उत्पन्न सौरी बुद्धि की स्थिरता भी स्वतःसिद्ध है। फलतः बौद्ध-व्यापारलक्षणा निष्ठा भी मानव का एक स्थिर धर्म्म ही आ ठहरता है। इसी आधार पर बौद्धव्यापारात्मिका इस निष्ठा के लिए शास्त्रों में 'स्थितप्रज्ञता' शब्द व्यवहृत हुआ है। मन की वह स्वाभाविक वृत्ति, जो सदा अस्थिर रहती है—भावुकता कहलाई है। बुद्धि की वह स्वाभाविक वृत्ति—जो सदा स्थिर रहती है—निष्ठा कहलाई है। भावुकता जहाँ अस्थिर-धर्म्मप्रयोजिका है, वहाँ निष्ठा स्थिरधर्म्मप्रयोजिका है।

न तो केवल बुद्धि के व्यापार का ही नाम निष्ठा है एवं न केवल मनोव्यापार का ही नाम भावुकता है। केवल बुद्धिव्यापार 'विश्वास' कहलाया है एवं केवल मनोव्यापार 'श्रद्धा' कहलाया है। मनोव्यापारलक्षणा श्रद्धा में इन्द्रियानुगत शरीरव्यापार का जब समावेश होता है, तभी श्रद्धा भावुकता के रूप में परिणत होती है। एवमेव बुद्धिव्यापारलक्षण विश्वास में जब आत्मव्यापार का समावेश होता है, तभी विश्वास निष्ठा के रूप में परिणत होता है। आत्मव्यापार के समावेश से बुद्धिव्यापारलक्षण विश्वास एवं मनोव्यापारलक्षणा श्रद्धा, दोनों में स्थिर धर्म्म का उदय हो जाता है। ठीक इसके विपरीत आत्मव्यापार-समावेश के अभाव में विश्वास और श्रद्धा दोनों अस्थिर बने रहते हैं। कारण यही है कि आत्मव्यापार-सहयोग के अभाव में बुद्धिव्यापार मनोव्यापार से अभिभूत हो जाता है। फलतः बुद्धि मनोऽनुगामिनी बन जाती है। मन का अपना धर्म्म पूर्वकथनानुसार अस्थिर है, अतएव ऐसे अस्थिर मन की दास बनी हुई बुद्धि और उसका स्थिर-लक्षण विश्वास अस्थिर बन जाता है। ठीक इसके विपरीत आत्मव्यापार के समावेश से बुद्धिव्यापार सबल बनता हुआ मानसव्यापार को अभिभूत कर डालता है। फलतः मन बुद्ध्यनुगामी बन जाता है। बुद्धि का अपना धर्म्म पूर्वकथनानुसार स्थिर है, अतएव ऐसी स्थिर बुद्धि का दास बना हुआ मन और उसकी श्रद्धा दोनों को भी स्थिर बन जाना पड़ता है। तात्पर्य्य-विना निष्ठा के न तो विश्वास का ही कोई महत्त्व है एवं न श्रद्धा का ही कोई गौरव है। वर्त्तमान मानव-समाज में सम्भवतः श्रद्धा-विश्वास के तो यत्र तत्र फिर भी दर्शन किए जा सकते हैं। परन्तु 'निष्ठा' आज सर्वात्मना सुदुर्लभ बन चुकी है। कारण यही है कि आज के श्रद्धा-विश्वास का आधार बनती है-वह भावुकता जिसकी निष्ठा के साथ महा-प्रतिद्वन्द्विता है। यही कारण है कि निष्ठाशून्य श्रद्धा-विश्वासों का अनुगमन करने वाले वर्त्तमान युग के विशुद्ध भावुक मानव न तो अपनी श्रद्धा से ही कोई लाभ उठा पाते, ना ही विश्वास ही उनके लिए फलदायक बनता। इस प्रासङ्गिक चर्चा की

आवश्यकता यह हुई कि वर्त्तमान में विश्वास को निष्ठा का पर्य्याय मानने की भूल की जा रही है। विश्वास में श्रद्धा की अपेक्षा दृढता अवश्य है, परन्तु भावुकतामूला श्रद्धा के द्वारा उत्पन्न विश्वास सदा के लिए दृढमूल नहीं बन सकता। अपि तु, प्रत्यक्ष-प्रभावोत्पादिका भावुकता के अनुग्रह से जिस क्षण यह श्रद्धा विलीन होती है, उसी क्षण ऐसी श्रद्धा का दास बना हुआ विश्वास भी उत्क्रान्त हो जाता है, अतएव **'नितरां स्थितिः'** लक्षणा निष्ठा को विश्वास का पर्य्याय नहीं माना जा सकता। श्रद्धानुगत विश्वास विश्वास है, आत्मानुगत विश्वास निष्ठा है श्रद्धानुगत विश्वास परिवर्त्तन-शील है, आत्मानुगत विश्वास अपरिवर्त्तनीय है। मानव का कल्याण न श्रद्धा से होता है, न विश्वास से। अपि तु, इसके कल्याण का अन्यतम उपाय है– **'निष्ठा'**। निष्ठा आत्मबल है, अपनी पूँजी है। श्रद्धा-विश्वास आगन्तुक हैं। निष्ठा और श्रद्धा-विश्वास के इसी महाविभेद को लक्ष्य बनाकर शास्त्रकारों ने मानव-कल्याणपथो का विश्वासादि नामकरण न कर–'ज्ञाननिष्ठा, **कर्म्म-निष्ठा, भक्तिनिष्ठा'**–आदि रूप से नामकरण किया है। उदाहरण के द्वारा विषय का स्पष्टीकरण कर लीजिए।

यह मान लीजिए कि ९९ प्रतिशत मानव भावुक हैं, जिनके आँखें नहीं, अपि तु, कान हैं। भावुक मानव कभी आँखों से काम नहीं लेता। वह सदा कानों के आधार पर ही चलता है, जैसा कि आगे विस्तार से प्रतिपादित होने वाला है। नवतिर्नव (९९) के कुचक्र में फँसे हुए ऐसे ही किसी भावुक के सम्पर्क में उस भावुक के सौभाग्य से, किन्तु स्वयं अपने दुर्भाग्य से एक निष्ठावान् विद्वान् आ जाता है। निष्ठावान् की शास्त्रीय चर्चा से भावुक मानव प्रभावित होने लगता है, श्रोता का मन, उसकी बुद्धि वक्ता विद्वान् की ओर आकर्षित होने लगती है। भावुक अतएव श्रद्धालु मानव निष्ठाशील विद्वान् पर श्रद्धा करने लगता है–विश्वास करने लगता है। देखने-सुनने वालों को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो यह भावुक मानव तो अब सदा के लिए इस निष्ठावान् का ही अनुगामी बन गया। परन्तु

थोड़े ही समय पश्चात् यह सुना जाता है कि अब अमुक भावुक की अमुक निष्ठावान् के प्रति न तो श्रद्धा ही रही, न विश्वास ही–ऐसा क्यों हुआ ? उत्तर वही भावुकता है। केवल कानों से काम लेने वाला, प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाला भावुक उस आत्मनिष्ठा से सर्वथा वञ्चित रहता है, जिस आत्मनिष्ठा के द्वारा श्रद्धा-विश्वास दृढमूल बना करते हैं। भावुक में आत्मनिष्ठा का आत्यन्तिक अभाव रहता है, वह विवेक से काम लेना जानता ही नहीं। उसका ज्ञान उसकी समझ, उसकी योग्यता सदा पराश्रित रहती है। वह स्वयं सदसत् की परीक्षा करने में असमर्थ रहता है। इन्हीं बाह्य संघर्षों के कारण दिन रात में शतशतबार उसके मनोभाव परिवर्त्तित होते रहते हैं। 'क्षणे तुष्टाः, क्षणे रुष्टाः' वाले एवंविध भावुक मानवों का निष्ठाशून्य श्रद्धा-विश्वास कभी उनका कल्याण नहीं कर सकता। कल्याण की एकमात्र जननी है–आत्मनिष्ठा, जो भावुकता से सर्वथा विदूर रहा करती है।

प्रकृतमनुसरामः। 'वर्त्तमान' (विश्वस्थिति) को एक प्रतिष्ठा-केन्द्र मानिए। इस प्रतिष्ठाकेन्द्र पर (विश्व पर) मानव को प्रतिष्ठित समझिए। प्रतिष्ठा-केन्द्रात्मक विश्व के उस ओर विश्व का अतीत-इतिहास है, इस ओर भविष्यत्-इतिहास बनने वाला है। मध्यस्थ मानव समाज को दोनों में से किसी एक इतिहास की पगडण्डी का सहारा लेकर अपने प्रतिष्ठास्थान (विश्व) में विचरण करना है। इतिहास की पगडण्डी ढूंढने के लिए इस मध्यस्थ मानव के पास दो विभिन्न साधन हैं। अतीतकालानुगामी श्रद्धा-भावनानुगत इन्द्रिययुक्त मन एक अन्वेषक है, भविष्यत्कालानुगामिनी आत्मनिष्ठायुक्त विश्वासपूर्णा बुद्धि एक अन्वेषक है। मानव में दोनों का समन्वय असम्भव सा है, अतएव मानव दोनों पगडण्डियों पर एक साथ चलने में असमर्थ बना रह जाता है। जिस मानव की अध्यात्मसंस्था में इन्द्रिययुक्त मन नामक अन्वेषक का विकास है–वह विश्व के अतीत इतिहास की पगडण्डी पर चल पड़ता है एवं ऐसे ही यात्री को भावुक मानव कहा गया है। जिस मानव

में आत्मानुगत बुद्धि नामक अन्वेषक विकसित रहता है, वह विश्व के भविष्यत्-इतिहास की पगडण्डी पर आरूढ हो जाता है एवं ऐसे ही यात्री को निष्ठावान् मानव कहा गया है। इतना और जान लीजिए कि अतीत का वर्त्तमान में कोई उपयोग नहीं हुआ करता। साथ ही अतीत स्वयं भी केवल शून्यं-शून्यं ही है। फलतः अतीत का अनुसरण करने वाले भावुक मानव लाभदृष्टि से उभयथा शून्यं-शून्यं बने रहते हुए दुःखार्त्त हैं। उधर भविष्यत् की आशा के साथ वर्त्तमान का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। साथ ही भविष्यत् स्वयं भी आशानुगता सत्ता के सम्बन्ध से पूर्ण-पूर्ण बना रहता है। फलतः भविष्यत् का अनुसरण करने वाले निष्ठावान् मानव लाभदृष्टि से उभयथा पूर्ण-पूर्ण रहते हुए सुखी हैं। इसी आधार पर एक सुन्दर लोकसूक्ति प्रचलित है–**'बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेय'**।

भावुक जहाँ 'परद्रष्टा' है, वहाँ निष्ठावान् 'स्वद्रष्टा' है। दूसरों को देखने वाला भावुक जहाँ कभी सुखी नहीं रह सकता, वहाँ अपने आपको देखने वाला निष्ठावान् कभी भी दुःखी नहीं रह सकता। परद्रष्टा भावुक **'लाभ देखता नहीं हानि का अनुभव करता नहीं**, इसीलिए वह **नित्य दुःखी** रहता है। स्वद्रष्टा निष्ठावान् **'यथा प्राप्त लाभ छोडता नहीं, हानि का अनुभव करता रहता है'**, अतएव वह नित्य सुखी रहता है। उदाहरण लीजिए–एक भावुक मानव किसी मूर्ख को सत्पथ पर लाने की चेष्टा में संलग्न हो जाता है। वह दूसरे को मूर्ख देख नहीं सकता। भावुक का स्वभाव ही ऐसा होता है। वह सदा परद्रष्टा ही बना रहता है। मूर्खता अभिनिवेश (दुराग्रह-हठधर्म्मी) की सन्तति है, अतएव–**'न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्'**–के अनुसार मूर्ख, और मूर्ख भी भावुक मूर्ख कभी अपनी मूर्खता छोड नहीं सकता। परिणाम, इस भावुक उपदेशक के परिश्रम का, यह होता है कि वह भावुक मूर्ख श्रोता स्वयं इस उपदेशक का उपदेशक बन जाता है। तब कहीं भावुक उपदेशक महोदय की आँखें खुलती हैं। इस

प्रकार परद्रष्टा इस भावुक उपदेशक ने मूर्ख भावुक को उपदेश देने से पहले यह सोचा ही नहीं कि–'इसे उपदेश देने में लाभ क्या है ?' सोचे भी क्यों ? भावुक भी कहीं लाभ देखा करते होंगे ? प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर हानि-लाभ का, सदसत्पात्रता का विवेक किए बिना आवेश में आकर झुक पड़ना ही तो भावुकता है । हाँ तो भावुक उपदेशक महोदय मूर्ख की चिकित्सा करने में अपने आपको असमर्थ पाकर अपना-सा श्रीमुख लिए वापस लौट रहे थे कि मार्ग में किसी निष्ठावान् मानव से आपकी मुठभेड़ हो गई। इसने पूछा, क्यों भाई ! तुम जिसे उपदेश दे रहे थे–उसका कुछ सुधार हुआ ? भावुक द्वारा उत्तर मिला–नहीं। प्रतिप्रश्न हुआ–क्यों ? इतने दिन का प्रयास, अहर्निश की वह गमनागमनपरम्परा । श्रोता की जनविश्रुत लगन, आत्मसमर्पण, श्रद्धा और तदनुगत विश्वास–यह सब कुछ होते हुए भी सफलता क्यों नहीं मिली ?' इस प्रतिप्रश्न का उत्तर चमत्कारपूर्ण मिलता है। भारतीय शास्त्र ने 'अधिकारी' के परीक्षण को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया है। अतपस्क, अमनस्क, अभक्त, अशुचि, व्यसनलीन, क्षणप्रवृत्ति, अभिमानी, ईर्ष्यालु आदि व्यक्ति अपात्र माने गए हैं। इनमें दिया हुआ विद्योपदेश सदा न केवल व्यर्थ ही जाता–अपि तु, ऐसे उपदेशों के द्वारा एवंविध अपात्रों का दम्भ-अभिमान निःसीम बन जाता है। भावुक उपदेशक ने भावुकता में आकर पात्रता का विवेक नहीं किया था, जिसका कुफल उसे भोगना पड़ा । अपनी इसी असावधानी से उसने निष्प्रयोजन समाज के एक मानव की अप्रसन्नता को अतिथि बना लिया। परन्तु भावुक परद्रष्टा जो है–उसका यह स्वभाव होता है कि वह अपना दोष देखने में असमर्थ रहता है। यही नहीं, अपि तु, वह स्वदोष को भी अन्य पर ही आरोपित करने की भावना में तल्लीन रहता है। अपनी इसी भावना के स्वाभाविक आकर्षण से आकर्षितमना भावुक उपदेशक निष्ठावान् को उत्तर देता है–"अजी छोड़िए, उस मूर्ख की बात । सोचा था, उसका कल्याण हो जाय, तो अपना क्या बिगड़ता है ? परन्तु वह तो सर्वथा जड़मति ही निकला।

चलोजी, अपना क्या बिगड़ा ? वह अपनी मूर्खता का फल अपने आप भोगेगा ।" उत्तर के तत्त्व पर पाठकों का ध्यान गया होगा । उत्तर से स्पष्ट व्यक्त हो रहा है कि इस भावुक उपदेशक ने लाभ न देखने के साथ-साथ हानि का भी अनुभव न किया । इसे यह अनुभव ही न हुआ कि जीवन का बहुमूल्य इतना लम्बा समय खोकर मैंने अपनी अप्रत्याशित हानि कर ली । इसीलिए तो पूर्व में हमने कहा था कि परद्रष्टा भावुक–'लाभ देखता नहीं, हानि का अनुभव करता नहीं ।'

अब स्वद्रष्टा निष्ठावान् को लक्ष्य बनाइए, भावी परिणामों का पूर्ण विचारक निष्ठावान् मानव वर्त्तमान स्थिति को संभाले हुए ही भविष्य की ओर अग्रसर होता है । भावी लाभ के समतुलन के लिए इसे अतीत को भी लक्ष्य बनाए रखना पड़ता है । इस प्रकार अपना आगा (भविष्य), पीछा (अतीत) देखकर बडी सावधानी से यह वर्त्तमानस्थिति का संचालन किया करता है । किसी ऐसे निष्ठावान् का उदाहरण बताइए, जो अपने विवेक, उपज, विद्या, कला आदि के बल पर भविष्य का पथ समुज्ज्वल देख रहा है । उसे यह दृढतम आत्मविश्वास है कि वह भविष्य में अतुलवैभव-यश-कीर्त्ति का भोक्ता बन जाएगा । परन्तु भावुक वर्त्तमान भानव समाज उसका मूल्याङ्कन करने में असमर्थ है । भावुक मानव समाज की दृष्टि में वह सुयोग्य निष्ठावान् मानव एक साधारण व्यक्ति है । अपनी इसी धारणा के कारण मानव समाज केवल उपकार भावना से अथवा तो अंशतः-प्रत्ययतः उसके गुणों से आकर्षित होकर उसका द्रव्यादि से सत्कार करना चाहते हैं, जो सत्कारद्रव्य उसकी योग्यता का उपहासमात्र है । निष्ठावान् की दृष्टि जब अपने भविष्य पर जाती है तो इस सत्कारद्रव्य के प्रति इसे अरुचि होती है । परन्तु उसी क्षण इसकी निष्ठा इसे अतीत स्मृति द्वारा इसे वर्त्तमान में ला खड़ा करती है । तत्काल उसका विवेक जाग्रत् होता है और यह निश्चय कर लेता है कि अपनी वर्त्तमान स्थिति को प्रगतिशील बनाने के लिए ऐसे यथाप्राप्त लाभों को भी हँसते-हँसते कृतज्ञतापूर्वक अपना लेना

चाहिए । वही यह करता है । क्योंकि यह अनुभव करता है कि इस यथा-प्राप्त लाभ के परित्याग से समाज का तो उद्‌बोधन होगा नहीं, हाँ अपनी हानि प्रत्यक्ष में है । बस, इसी हानि के अनुभव से प्रेरित होकर यह निष्ठावान् सदा लाभ का ही अनुगामी बना रहता है । इसी आधार पर तो हमने कहा था कि–'स्वद्रष्टा निष्ठावान् मानव यथाप्राप्त लाभ छोडता नहीं एवं हानि का अनुभव करता है' ।

उक्त उदाहरणों से हमें एक तथ्य पर और पहुँचना पड़ा । जो भावुक कभी हानि का अनुभव नहीं करता, उसकी सदा हानि ही होती है एवं जो निष्ठावान् हानि का अनुभव किया करता है, उसे सदा लाभ ही होता रहता है । हानि अल्पता है, अल्पता ही दुःख है, अतएव भावुक नित्यदुःखी किंवा आद्यन्त का दुःखी है । लाभ भूमा है–भूमा ही सुख है, अतएव निष्ठावान् नित्यसुखी किंवा आद्यन्त का सुखी है । एक समस्या और । नित्यदुःखी भावुक अपनी दुःखावस्था पर आवरण (पर्दा) डालने की चेष्टा में संलग्न रहता हुआ भी सामाजिक अनुग्रह से और वञ्चित रह जाता है । वह भावुक अपने आपको देखना जानता ही नहीं, अतएव वह अपनी दयनीय दुःखद अवस्था को देखता हुआ भी नहीं देखता । यहीं सीमा समाप्त नहीं हो जाती । दूसरे इसे दोषी-दुःखी न मान बैठें, इसके लिए इसे येनकेनाप्युपायेन बाह्य बेशभूषा, रहन-सहन में चाकचिक्य का समावेश और करना पड़ता है । यह चाकचिक्य इसके लिए अधिकाधिक दुःखप्रवृत्ति का ही कारण बनता है । उधर नित्यसुखी निष्ठावान् सदा अपनी सहजस्थिति का अनुगमन करता हुआ, बाह्य आडम्बरों से विनिर्मुक्त रहता हुआ समय-समय पर सामाजिक अनुग्रह से भी युक्त होता रहता है एवं अनावश्यक अपव्यय से भी बचा रहता है ।

परद्रष्टा भावुक अपने आपको क्यों नहीं देखता एवं स्वद्रष्टा निष्ठा-वान् की दृष्टि अन्य पर क्यों नहीं जाती ? इन प्रासङ्गिक प्रश्नों का भी

समन्वय कर लीजिए। बतलाया गया है कि स्वद्रष्टा भावुक मानव की अध्यात्मसंस्था में इन्द्रिययुक्त मन का ही प्राधान्य रहता है। **'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्'**–इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार मानव के 'ख' (इन्द्रियाँ) बहिर्मुख हैं। इन्द्रियों का रुख बाह्य विश्व की ओर है। फलतः इन्द्रिययुक्त मन बहिर्मुख इन्द्रियों के द्वारा बाहर की ओर ही अनुगत रहता है। मानसी दृष्टि, मानस अनुभव सदा पराश्रित (बाह्यविषयाश्रित) है। मन कभी स्व (आत्मा) को देख ही नहीं सकता, अतएव मनोभावानुगत भावुक मानव स्वदर्शन में सर्वथा असमर्थ बना रह जाता है। पूर्व परिच्छेदों में यह भी स्पष्ट किया गया है कि स्वद्रष्टा निष्ठावान् मानव की अध्यात्मसंस्था में आत्मयुक्ता बुद्धि की प्रधानता रहती है, जो कि बुद्धितत्त्व उपनिषदों में 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। **'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'**–के अनुसार आत्मप्रसादयुक्ता विज्ञातबुद्धि ही स्वदर्शन में समर्थ है, अतएव सर्वदर्शन में समर्थ है। यहाँ विज्ञानबुद्धि से वह लौकिक विवेकज्ञान ही अभिप्रेत है, जो अपने आपको प्रधानतया देखा करता है।

दूसरी दृष्टि से भावुकता और निष्ठातत्त्वों का साक्षात्कार कीजिए। इन्द्रियजन्य ज्ञान के अनुसार चलने वाला मानव भावुक कहलाया है एवं विवेकज्ञान के आधार पर चलने वाला मानव निष्ठावान् कहलाया है। मन-मानी (मन के कथनानुसार) करने वाला मानव भावुक है, बुद्धिमानी (बुद्धि के अनुसार) करने वाला मानव निष्ठावान् है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षानुभूति से प्रभावित न होने वाला मानव निष्ठावान् है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षानुभूति से प्रभावित होने वाला मानव भावुक है, विवेकजन्य परोक्षज्ञान (तथ्यज्ञान) से प्रभावित होने वाला मानव निष्ठावान् है। प्रत्यक्षापराध को न सहने वाला मानव भावुक है, प्रत्यक्षापराध की उपेक्षा करने वाला मानव निष्ठावान् है। शिक्षाज्ञानयुक्त मानव भावुक है, सहजज्ञान युक्त मानव निष्ठावान् है। विद्वान् मानव भावुक है, समझदार मानव निष्ठावान् है। ज्ञानी मानव भावुक है, मूर्ख मानव निष्ठावान् है। अपने उत्तरदायित्व का

अनुभव न करने वाला मानव भावुक है, उत्तरदायित्व को अनुभव करने वाला मानव निष्ठावान् है। गैर जिम्मेदार मानव भावुक है, जिम्मेवार मानव निष्ठावान् है। निश्चित जीविकोपार्जन-साधन वाला मानव भावुक है, अनिश्चित जीविकोपार्जन साधन वाला मानव निष्ठावान् है। संघर्षविरोधी शान्तिपक्षपाती मानव भावुक है, संघर्षानुयायी क्रान्तिपक्षपाती मानव निष्ठावान् है। अपने आपको योग्य-पूर्ण समझने वाला मानव भावुक है, अपने आपका अयोग्य अपूर्ण घोषित करने वाला मानव निष्ठावान् है। प्रत्यक्ष के आधार पर निर्णय करने वाला मानव भावुक है, परिस्थिति के आधार पर निर्णय करने वाला मानव निष्ठावान् है। शिक्षा देने के लिए सदा सन्नद्ध रहने वाला मानव भावुक है, शिक्षा प्राप्त करने के लिए सदा सन्नद्ध रहने वाला मानव निष्ठावान् है। अपने भी दोषों को दूसरों का दोष मानने वाला मानव भावुक है, दूसरों के भी दोषों को अपना दोष मानने वाला मानव निष्ठावान् है। परसमालोचक, परदोषदर्शी परनिन्दक, अकर्मण्य मानव भावुक है। स्वसमालोचक, परगुणदर्शी, परप्रशंसक कर्त्तव्यपरायण मानव निष्ठावान् है। अपने आपको उदार घोषित करने वाला अपव्ययी मानव भावुक है, अपने आपको कृपण कहलाने में भी संकुचित न होने वाला मितव्ययी मानव निष्ठावान् है। इस प्रकार लोकदृष्टि के आधार पर अनेक दृष्टियों से भावुकता तथा निष्ठा का साक्षात्कार किया जा सकता है।

अब कुछ एक लौकिक उदाहरणों के द्वारा उक्त दोनों भावों का मानव-समाज के साथ समन्वय और कर लीजिए। मानवीय ज्ञानधारा के लौकिक दृष्टि से अभी हम कृत्रिम, सहज भेद से दो विभाग मानेंगे। बाह्य विषयों के आधार पर तथा ग्रन्थों के आधार पर सञ्चित किया हुआ ज्ञान 'कृत्रिम' ज्ञान है, इसे ही 'विद्या' कहा गया है एवं इस विद्या से युक्त मानव को 'विद्वान्' कहा गया है, जिसे लोकभाषा में हम 'जानकार' कहा करते हैं। अपनी स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा से, उपज से, स्फुरण से प्रादुर्भूत ज्ञान 'सहज' ज्ञान है—इसे ही 'बुद्धि' कहा गया है, एवं इस बुद्धि से युक्त मानव को

'बुद्धिमान्' कहा गया है–जिसे लोकभाषा में हम 'समझदार' कहा करते हैं। विद्यात्मक कृत्रिम ज्ञान, बुद्ध्यात्मक सहजज्ञान–दोनों का समन्वय कठिन है। यदि सौभाग्य से विद्याबुद्धि का एकत्र समन्वय हो जाता है तो वह मानव अभूतपूर्व मानव बन जाता है। इस अभूतपूर्वता के दो क्षेत्र हैं। यदि दोनों के समन्वय में विद्या का बुद्धि पर प्रभाव होता है, तो वह मानव सिद्ध बन जाता है, एवं ऐसे भावनाप्रधान-निष्ठावान् मानव से मानवसमाज का सदा कल्याण ही होता है। यदि दोनों के समन्वय में बुद्धि का विद्या पर प्रभाव हो जाता है, तो वह मानव बुद्ध्यनुगता महत्त्वाकांक्षा के कुचक्र में फँस जाता है। अपनी इस महत्त्वाकांक्षा, लोकैषणा को सफल बनाने के लिए इस मानव को छल-बल-साम-दान-दण्ड भेद-व्याजस्तुति-अर्थप्रलोभन आदि असदुपायों का आश्रय लेना पड़ता है। क्योंकि विना इन असदुपायों के मानव की व्यक्तिगतस्वार्थमूला वह महत्त्वाकांक्षा, वह लोकैषणा कभी सफल हो ही नहीं सकती, जिस लोकैषणा का लोकानुरञ्जक इतिहास गताङ्कों में विस्तार से गाया जा चुका है (देखिए मानवाश्रमपाक्षिक–१४, १५ अङ्क)। महत्त्वाकांक्षा कामुक (लोक में अपने आपको बड़ा प्रतिष्ठित मानने मनवाने का इच्छुक) मानव अपने जीवन में ही अपनी इस महत्त्वाकांक्षा को सफल बनाने के लिए व्यग्र रहता है। इस व्यग्रता के कारण इसकी अध्यात्मसंस्था सदा क्षोभपूर्ण-अशान्त-चिन्तित बनी रहती है। यह महत्त्वाकांक्षी किन्तु निष्ठावान् मानव यह भली-भाँति जानता है कि बिना मानवसमाज के सहयोग के उसकी महत्त्वाकांक्षा पूरी नहीं हो सकती। इसके साथ ही यह यह भी जानता है कि मानवसमाज अधिकांश में भावुक होता है, प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाला है। **'दूसरों की कमजोरी से लाभ उठाना मानव की सबसे बड़ी बुद्धिमानी है'**–इस तत्त्व का पूर्ण मर्म्मज्ञ यह महत्त्वाकांक्षी मानवसमाज की स्वाभाविक कमजोरी एवं उसकी भावुकता से अधिक से अधिक लाभ उठाने में अग्रेसर बन जाता है। फलतः इसे अपने जीवन में उन अभिनयों का, चाकचिक्ययुक्त उन प्रदर्शनों का आश्रय लेना पड़ता है, जिन से भावुक मानव-समाज प्रभावित

होकर इसका सहायक बन जाता है। यह हम आगे स्पष्ट करने वाले हैं कि हिन्दू-मानवसमाज विशेषरूप से भावुक इसलिए होता है कि उसकी जीविका के साधन निश्चित होते हैं। निष्ठावान् महत्त्वाकांक्षी हिन्दू-मानव की इस कमजोरी का भी पूर्ण ज्ञाता है, अतएव यह इस जीविका-साधन को ही प्रधानरूप से अपना शस्त्र बनाता है। भूखे को भोजन, नग्न को वस्त्र, दुष्ट को दण्ड, प्रतिष्ठित को विविधोपहार, विद्वानों का पूजन, अपने से प्रबल की चापलूसी, अपने विरोधी की निन्दा आदि उपायों में सतत व्यस्त रहने वाला ऐसा महत्त्वाकांक्षी मानव समाज के अधिक भाग को अपने अनुकूल बना लेता है और यों प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाला मानव-समाज ऐसे महत्त्वाकांक्षी का सहायक बन जाता है। भीष्म-द्रोण-शल्य-कर्ण-कृपाचार्य्य आदि भावुक मानवों ने दुष्टबुद्धि दुर्य्योधन की महत्त्वाकांक्षा-राज्य लिप्सा-अर्थलिप्सा-में क्यों और कैसे सहयोग दिया ? इस ऐतिहासिक प्रश्न का यही तत्त्व है। दुर्य्योधन ने इन सबकी भावुकता से लाभ उठाया। पाण्डवों के मामा शल्य एक अक्षौहिणी सेना लेकर पाण्डवों की सहायता करने आ रहे थे। दुर्य्योधन बीच ही में जा पहुँचता है। बडे आटोप से परोक्षरूप से वह शल्य का आतिथ्य करता है। भावुक शल्य इस प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर कह पड़ते हैं-'जिसने हमें मार्ग में ऐसा सुख पहुँचाया, उसे हम इनाम देना चाहते हैं।' तत्काल दुर्य्योधन सामने आ खड़ा होता है और कहता है-'आपको इस अक्षौहिणी सेना के साथ मेरी ओर से लड़ना पड़ेगा, वचनबद्धता की भावुकता में पड़े हुए शल्य को ऐसा ही करना पड़ता है। कैसा अनुरूप उदाहरण है! भावुकता पर निष्ठा की पूर्ण विजय है, क्या भीष्म-द्रोणादि जैसे तत्त्वज्ञ यह नहीं जानते थे कि दुर्य्योधन महादुष्ट है, धर्म्मात्मा पाण्डवों के न्यायसिद्ध अधिकार पर आक्रमण करने वाला है। जानते थे और खूब जानते थे। परन्तु दुर्य्योधन की निष्ठा के सामने वे विवश थे। 'मानव अर्थ का दास है'-कहकर स्वयं भीष्म ने अपनी भावुकता व्यक्त की है। निष्ठावान् और फिर भावुक निष्ठावान् नीम और गिलोय

चढी। कभी यह स्वार्थसाधन के लिए भावुकता का आश्रय लेता है, तो कभी निष्ठा का। भावुकता के आवेश में आप इस निष्ठावान् को अश्रु-पूर्णाकुलेक्षण देखेंगे, आप यह अनुभव करेंगे कि सचमुच यह तो करुणा की मूर्त्ति है। उधर निष्ठा के आवेश में आप इसे साक्षात् रुद्रमूर्त्ति पाएँगे। इस प्रकार अपनी सहजबुद्धि के प्रभाव से, उपज से दिन-रात में शतशः भाव बदलने वाला उभयनिष्ठ यह महत्त्वाकांक्षी अच्छे-बुरे उपायों से सदा स्वार्थ-साधन में संलग्न रहता है और यही इस दुष्टबुद्धि की सफलता का रहस्य है।

यह तो हुई दुष्टबुद्धि उभयनिष्ठ निष्ठावान् की सामान्य गाथा। अब दो शब्दों में इसी उभयनिष्ठ निष्ठावान् की गाथा का विस्तार भी सुन लीजिए। निष्ठा-दृष्टि से दुष्टबुद्धि तथा सद्बुद्धि दोनों ही मानव समान-धर्म्मा हैं, समतुलित हैं। अन्तर दोनों में केवल यही है कि दुष्टबुद्धि केवल महत्त्वाकांक्षी है—स्वार्थलिप्सा का अनुगामी है। इधर यह सद्बुद्धि आत्म-कल्याणाकांक्षी है, स्वार्थलिप्सा का विरोधी है। दुष्टबुद्धि की विद्याबुद्धि की दास है, सद्बुद्धि की बुद्धि विद्या की दास है। दूसरे शब्दों में दुष्टबुद्धि अपने ज्ञान को समझ का अनुगामी बनाए रहता है एवं सद्बुद्धि अपनी समझ को ज्ञान की अनुगामिनी बनाए रहता है। दुष्टबुद्धि की निष्ठा का केन्द्र विश्व-वैभव है, सद्बुद्धि की निष्ठा का केन्द्र आत्मशान्ति-आत्मवैभव है। विश्ववैभव चूंकि मानवसमाज के सहयोग पर अवलम्बित है, अतएव दुष्टबुद्धि का अपनी निष्ठा का आश्रय मानवसमाज को बनाना पड़ता है। वह यह अनुभव करता है कि अपनी श्रद्धा, अपने विश्वास के अनुगत स्वार्थमूला अपनी निष्ठा तभी सुरक्षित तथा पुष्पित पल्लवित हो सकती है जब कि भावुक मानव का सहयोग प्राप्त हो। भावुक मानवों का सहयोग तभी प्राप्त हो सकता है, जब कि स्वार्थ साधनमात्र के लिए उनकी मानी हुई श्रद्धा, उनकी भावुकता, उनके विश्वास के अनुरूप ही मैं अपने आपको दिखला सकूं। फलतः इस निष्ठावान् को भावुक मानव-समाज के श्रद्धा-विश्वास के अनुरूप ही अपनी वृत्तियों में अनेक परिवर्त्तन करने पड़ते हैं। इसे अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए समाज

की प्रचलित मान्यता में 'हाँ' करनी पड़ती है। जिस ओर समाज का रुख रहता है, उसी ओर झुक जाना उसकी स्वार्थ सिद्धि का द्वार बनता है। हाँ इस सम्बन्ध में इस गतानुगतिकता में यह निष्ठावान् सतर्क अवश्य रहता है। यदि किसी मानवविशेष को यह अपनी ओर (सब प्रलोभन देकर भी) झुकाने में असमर्थ रहता है, तो यह उसकी इसलिए उपेक्षा कर देता है कि वह इसकी निष्ठा का—जघन्य स्वार्थलिप्सा का स्वयं भी विरोध करता है, साथ ही जो अन्य भावुक इसके समर्थक बने रहते हैं, उन्हें भी वह इसके षड्यन्त्र से परिचित कराता रहता है। यही कारण है कि दुष्टबुद्धि निष्ठावान् यह मानव अपने स्वार्थविरोधी की उपेक्षा करके ही चुप नहीं बैठा रह जाता। अपि तु, इस भय से कि 'यह विरोधी मेरे अर्थजाल से मेरे स्वार्थ-साधक मोहित अन्य भावुकों को मेरा नग्नस्वरूप बतला कर उन्हें मेरा विरोधी बताता हुआ मेरे स्वार्थ पर आक्रमण न कर बैठे"—यह दुष्टबुद्धि उस निष्ठावान् विरोधी को मिथ्या कलङ्क लगा कर मानव समाज की दृष्टि में उसे गिराने का जघन्य प्रयत्न और करता रहता है। कहना न होगा कि कुछ लोग तो अपनी आर्थिक अवस्था के कारण, कुछ लोकसम्मान के आकर्षण से, कुछ अपनी प्रत्यक्षप्रभावमूला भावुकता के कारण दुष्टबुद्धि मानव के इस मिथ्याचार से प्रभावित होकर सदा उसी का अनुगमन करते रहते हैं। वर्त्तमान व्यक्तिनीति, समाजनीति, राष्ट्रनीति आदि नीतियों के प्राङ्गण में आज ऐसे ही दुष्टबुद्धियों का प्राधान्य है। यही कारण है कि सद्बुद्धिनिष्ठावानों का आज के क्षेत्र में कोई महत्त्व नहीं है। उनकी सत्यनिष्ठा, उनके सत्योद्‌गार उनके अन्तःकरण में ही विलीन हो जाते हैं। भगवान् ही जानें कहाँ तक सच है, सुना गया है कि कितने ही धनिक सामयिक समाचारपत्रों की नीति (पॉलीसी) मुँह माँगा पैसा देकर खरीद लेते हैं। फल यह होता है कि पत्र इन धनिकों की स्पष्ट समालोचना का स्वप्न में भी स्मरण भी नहीं करते, नहीं कर सकते। आस्तां तावत्। कहना इस सन्दर्भ से यही है कि उभययुक्त महत्त्वाकांक्षी निष्ठावान् एकमात्र महत्त्वाकांक्षा के अनुग्रह से अपने स्वार्थ का अनन्य समर्थक बनता हुआ मानवता के लिए एक भयानक

आपत्ति बन जाता है। इसकी दया, करुणा, मैत्री, बन्धुप्रीति, राष्ट्रप्रेम आदि मानवताएँ वहीं तक सुरक्षित रहती हैं, जहाँ तक ये मानवताएँ इसकी स्वार्थमूला महत्त्वाकांक्षा पर चोट नहीं लगाती। स्वार्थ और मानवताओं के संघर्ष में यह मानवताओं का सर्वथा परित्याग करता हुआ विशुद्ध राक्षसधर्म्मा ही बन जाता है। यदि उस नीचवृत्ति से इसे अपना स्वार्थसिद्ध होता प्रतीत होता है तो नीच से नीचवृत्ति भी इसके लिए उपास्य बन जाती है। उभयसमन्वय पक्षपाती किन्तु स्वार्थी अतएव दुष्टबुद्धि ऐसे निष्ठावान् मानव के जीवन में निराशा के अवसर बहुत कम आते हैं। अधिकांश में इसे सफलता ही मिलती है। यही कारण है कि ऐसा मानव भावुक असफल मानवों की अपेक्षा स्वस्थ दोहरे शरीर का होता है। अपवादस्थलों को छोड़कर ऐसे निष्ठावान् प्रायः स्थूलकाय ही मिलेंगे। स्थूलता को स्वयं वेद ने भी पाप का ही प्रतीक माना है। मानव-स्वभाव का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर श्रुति ने कहा है—**"तस्माद्यो मनुष्याणां मेद्यति, अशुभे मेद्यति, विहूर्छति। न ह्यनाय च न भवति। अनृतं हि कृत्वा मेद्यति"** (शत० ब्रा० २।४।२।६)। श्रुति का अक्षरार्थ यही है कि 'इसलिए मनुष्यों में जो मनुष्य मेदस्वी-स्थूलकाय-मोटा होता है, (विश्वास करो वह अशुभपाप-कर्म्म में ही मेदस्वी बना है। वह मेदस्वी (आत्मदृष्टया) लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है, पतित बन जाता है। उसके समस्त श्रेयःपन्था अवरुद्ध हो जाते हैं। क्योंकि निश्चयेन वह अनृतमिथ्या भाषण (छल-धूर्त्तता) करके ही पुष्ट बनता है।" मानव समाज के उक्तस्वरूप विश्लेषण के आधार पर हमें उभययुक्त (भावना निष्ठायुक्त) महत्त्वाकांक्षी, अतएव दुष्टबुद्धि स्वार्थी लोकदृष्टया समृद्धिशाली सफल, किन्तु आत्म-परलोकदृष्टया सर्वथा असफल ऐसे स्वस्थ किन्तु असुन्दर मानव के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है—

१—स्वार्थी निष्ठावान् मानव झूँठ कभी बोलता नहीं, सच कभी कहता नहीं, इसीलिए वह समाज में बड़ा आदमी माना जाता है।

२–स्वार्थी निष्ठावान् मानव सदा दूसरों की कमजोरी से ही लाभ उठाता है।

३–यह मानव सदा यथाप्राप्त लाभ को अपनाता रहता है, हानि का अनुभव करता रहता है, अतएव इसकी कभी हानि नहीं होती।

४–यह बुद्धिमान् भावुक मानव समाज की वर्त्तमान प्रवृत्तियों का अनुगामी बनता हुआ उसकी भावुकता के अनुरूप अपने आपको परिस्थिति के अनुसार प्रतिक्षण बदलता हुआ उसका सहयोग प्राप्त कर लेता है, अतएव सब उसके अनुगामी बने रहते हैं।

५–यह निष्ठावान् अपने स्वार्थसाधन के लिए जहाँ सबका सेवक बना रहता है, वहाँ स्वार्थसफलता के अनन्तर यह सबका प्रभु बन जाता है।

६–भावुक समाज के शिष्ट-अशिष्ट दोनों प्रकार के मानवों को वशवर्ती बनाए रखने के लिए यह निष्ठावान् शिष्ट-अशिष्ट दोनों प्रकार के मानवों के एक समुदायविशेष (गिरोह) को सत्कार अर्थलोभनादि साधनों के द्वारा सदा अपना दास बनाए रहता है।

७–और यों यह बुद्धिमान् निष्ठावान् लोकदृष्टया सब प्रकार के साधनों से सुसम्पन्न रहता हुआ अपनी महत्त्वाकांक्षा को सफल बनाता रहता है।

सद्बुद्धि निष्ठावान् के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अप्रासङ्गिक न माना जाएगा। लक्ष्यसफलता की दृष्टि से सद्बुद्धि और दुष्टबुद्धि दोनों समानधर्म्मा हैं। भेद है लक्ष्य में और लक्ष्यानुगमन प्रणाली में। सद्बुद्धि स्वात्मकल्याणदृष्टि से है तो स्वार्थी ही, परन्तु इसका स्वार्थ केवल स्वार्थ होता है, किंवा इसके स्वार्थ के गर्भ में परार्थ तथा परमार्थ भी गर्भीभूत रहते हैं। धर्म्मनीति और राजनीति में जो अन्तर है, दुष्टबुद्धि और

सद्बुद्धि के लक्ष्य में भी वही अन्तर है । धर्म्मपथ से धर्म्मिष्ठ का कल्याण होता है, इसके सहवास से–आदेशोपदेशों से मानवसमाज का भी कल्याण होता है । धर्म्मिष्ठ कभी दूसरों का अहित नहीं चाहता । 'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्–'सर्वे सन्तु निरामयाः'–ही इसके जीवन का आदर्श रहता है। दूसरों का लाभ हो अथवा न हो उनकी हानि इस धर्म्मिष्ठ से कभी सम्भव नहीं । परार्थ-परमार्थसाधन-सहकृता-आत्मोदयमूला नीति ही धर्म्मनीति है । उधर राजनीति का लक्ष्य ठीक इससे उल्टा है । राजनैतिक दुष्टबुद्धि मानव का स्वार्थ चूंकि आत्म-सम्पत्ति से वञ्चित रहता है, वह केवल लोकैषणा-लोकवैभव का इच्छुक रहता है, अतएव उसके स्वार्थ में परार्थ-परमार्थ का अभाव रहता है । जिस लोक-सम्पत्ति की यह इच्छा रखता है, अन्य मानव भी उसके इच्छुक हैं, अतएव उनका दमन किए विना इसकी महत्त्वाकांक्षा सफल नहीं हो सकती, अतएव च–इसे स्वस्वार्थ साधन के लिए दूसरों के स्वार्थ पर आक्रमण करना पड़ता है । 'आत्मोदयः परज्यानिर्नीतिरित्यभिधीयते'–के अनुसार दूसरों की हानिङ्क करता हुआ ही यह नैतिक स्वार्थसाधन में सफल हो पाता है । राजनीति की इस जघन्यवृत्ति का भारतीय महर्षियों ने पर्य्याप्त अन्वेषण किया था । वे इसके दुष्परिणामों से परिचित थे, अतएव उन्होंने राजनीति को धर्म्मनीति का दास बना डाला था । इतर देशों का धर्म्म जहां राजनीति का दास है–वहां भारतवर्ष में राजनीति धर्म्म का दास रही है । इतर देशों के सम्पर्क से दुर्भाग्य से आज भारतवर्ष में भी राजनीति ने धर्म्म पर आक्रमण कर डाला और यही यहां के पतन का मूलकारण है ।

अस्तु, कहना यही है कि सद्बुद्धि उभयनिष्ठ निष्ठावान् मानव की विद्या उसकी बुद्धि पर अनुशासन करती रहती है । विद्या आत्मधर्म्म है, बुद्धि लोकधर्म्म है । विद्यासाधन से वह आत्मकल्याण का अनुगामी बना रहता है, जो आत्मकल्याण 'निःश्रेयस' कहलाया है एवं बुद्धिसाधन से वह लोककल्याण का भोक्ता बना रहता है, जो लोककल्याण 'अभ्युदय' कहलाया

है। इस प्रकार धर्म्मपथानुगामी सद्बुद्धि उभयकल्याण का भोक्ता बना रहता है। परन्तु .... ।

'परन्तु' शब्द इसलिए प्रयुक्त हुआ कि सद्बुद्धिसाधक मानव विद्या और बुद्धि दोनों के संघर्ष में विद्या की रक्षा कर लेता है, और बुद्धि की उपेक्षा कर देता है। दूसरे शब्दों में संघर्षावसरों पर उसकी समझ (बुद्धि) लोकानुगत न बनकर आत्मानुगत बन जाती है। स्थिति का यों स्पष्टीकरण कीजिए। आत्मकल्याण का विद्या से, लोककल्याण (लोकसम्पत्ति का आगमन और संरक्षण) का बुद्धि से सम्बन्ध है। मानव स्वभावतः दोनों का इच्छुक है। महत्त्वाकांक्षी मानव भी विद्या-बुद्धि से काम लेता है एवं आत्मकल्याणाकांक्षी मानव भी दोनों से काम लेता है। पहला दुष्टबुद्धि है, दूसरा सद्बुद्धि है। सद्बुद्धि को अपेक्षित हैं दोनों, परन्तु दोनों की तुलना में प्रधान स्थान है आत्मकल्याण का। दुर्बुद्धि को भी अपेक्षित हैं दोनों, परन्तु दोनों की तुलना में प्रधान स्थान है, लोकसम्मत का, अतएव दोनों विभूतियों के संघर्ष में आ जाने पर सुबुद्धि लोकसम्मत की उपेक्षा कर देता है। दुर्बुद्धि आत्मसम्मत की उपेक्षा कर देता हैं। सुबुद्धि जानता है कि लोकसम्मत् की उपेक्षा कर देने से उसकी जीवनयात्रा संकट में पड़ जाएगी। परन्तु फिर भी वह इसलिए इस कष्ट का स्वागत कर लेता है कि प्रतिफल में उसे वह आत्मशान्ति मिल जाती है, जिसके सम्मुख त्रैलोक्य का भी वैभव तुच्छ है। उधर दुर्बुद्धि भी जानता है कि आत्मसम्मत की उपेक्षा कर देने से उसका जीवन अशान्त बन जायगा। परन्तु फिर भी वह इसलिए इस आत्मक्लेश का स्वागत कर लेता है कि प्रतिफल में उसे वह लोकसम्मान-लोकप्रतिष्ठा (नाम) मिल जाता है, जिसके सन्मुख उसकी दृष्टि में आत्मशान्ति का कोई महत्त्व नहीं है।

सुबुद्धि महत्त्वाकांक्षी नहीं होता। उसे लोकसम्मान, मान-बडाई की चिन्ता नहीं रहती। ना हीं लोकनिन्दा का अनुवर्त्तन करता। दुनिया उसे

अच्छा कहे, या बुरा इसकी वह चिन्ता ही नहीं करता । वह चुपचाप अपने लक्ष्य का अनुगमन किए जाता है । वह भावुक समाज के प्रचलित श्रद्धा-विश्वास का इसलिए समर्थन नहीं कर सकता कि उसे इस समर्थन में आत्म-पतन का भय बना रहता है । यही नहीं-अपि तु, घातक रूढिवादों का विरोधी बनता हुआ वह समाज को अपना विरोधी बना लेता है । दुर्बुद्धि के जहाँ सब सहायक बने रहते हैं, वहाँ सुबुद्धि के सब विरोधी बने रहते हैं । सुबुद्धि निष्ठावान् अग्निक्रीड़ा मात्र करता रहता है, क्योंकि अधिकांश में मानव-समाज भावुक होता है । उसकी अपनी श्रद्धा, अपने विश्वास का एक कल्पित केन्द्र होता है । वह भावुक मानवसमाज उसी का सहयोगी बनता है, जो उसकी कल्पित-श्रद्धा, कल्पित विश्वास का अनुगामी बनता है । महत्त्वाकांक्षी की महत्त्वाकांक्षा की सफलता बहुत अंशों में मानव समाज पर अवलम्बित है, अतएव महत्त्वाकांक्षी को इच्छा न रहते भी उस मानव समाज की हाँ में हाँ करनी पड़ती है । इस अनुगति से मानव समाज इस महत्त्वाकांक्षी के अनुकूल बन जाता है । उधर आत्माकांक्षी की आत्माकांक्षा की सफलता स्वयं उसी की स्वनिष्ठा पर अवलम्बित होती है, अतएव वह भावुक समाज के श्रद्धा-विश्वास का अनुगमन नहीं कर सकता । अपि तु, समय-समय पर भावुक-समाज की मान्यता पर (उसके आत्मकल्याण के लिए) आक्रमण करता रहता है । मानव समाज में जो व्यक्ति आत्मकल्याणेप्सु होते हैं (जिनकी संख्या सर्वथा परिगणित है), वे तो इस निष्ठावान् के सहयोगी बन जाते हैं, शेष भावुक समाज इस आक्रमण को सहने में असमर्थ रहता हुआ, साथ ही अपनी अर्थपूर्णा दोषबुद्धि से इस आक्रमण का वाचिक विरोध करने में भी अपने आपको अशक्त पाता हुआ परिणामतः उस सद्-बुद्धि निष्ठावान् का विरोधी बन जाता है । इस प्रकार अपनी आत्मनिष्ठा को प्राणपण से सुरक्षित रखने वाले, प्रवाह में न बहने वाले इस निष्ठावान् का संसार विरोधी बन जाता है । विरोध के परिणामस्वरूप इसकी अपनी आत्मनिष्ठा का तो कुछ नहीं बिगड़ता । परन्तु जिस आत्मनिष्ठा का जिन

बाह्यसाधनों से यह मानव समाज में उसके कल्याण के लिए प्रचार करना चाहता है, उसका यह बाह्य लक्ष्य अवश्य ही सर्वात्मना सफल नहीं हो पाता, जिसका उत्तरदायित्व इससे कोई सम्बन्ध न रखकर समाज से ही सम्बन्ध रखता है।

यह सिद्धान्त बतलाया गया है कि निष्ठावान् कभी असफल नहीं होता। नाहीं वह अपनी असफलता का दोष दूसरों के मत्थे मंढता। प्रश्न होता है कि सद्बुद्धि निष्ठावान् लोकसंग्रह में असफल रहता हुआ अपने बाह्य उद्देश्य में भी यदि असफल रह गया, तो इस सिद्धान्त का क्या महत्त्व रहा? प्रश्न का समन्वय कीजिए। इस निष्ठावान् का मुख्य उद्देश्य है–आत्म-कल्याण, न कि लोकसम्पत्ति। यदि वह इसमें सफल हो रहा है, तो सफल ही माना जाएगा। रही बात लोकसंग्रह की। उसके लिए चेष्टा करते रहना मात्र इसका कर्त्तव्य है। प्रयास इसे ऐसा ही करते रहना चाहिए, जिससे भावुक भी मानव समाज इसका विरोधी न बने। इसके लिए इसे अपने स्पष्ट सत्यभाषण को प्रिय बनाना पड़ेगा। प्रचलित श्रद्धा-विश्वास पर साक्षात्‌रूप से आक्रमण न कर परोक्षरूप से आक्रमण करना पड़ेगा। शिष्ट-प्रिय-सत्य-भाषा, सरलजीवन, निरभिमानिता आदि साधनों के द्वारा भावुक-मानवसमाज का सम्पंक सुरक्षित रखना पड़ेगा और निश्चयेन इन बाह्य–किन्तु आत्मानुगामी ऋजु साधनों से इसे भावुक-समाज का सहयोग निश्चयेन प्राप्त हो जाएगा। हाँ, दुष्टबुद्धियों का अनुरञ्जन यह त्रिकाल में भी न कर सकेगा और वे अवश्य ही इसके विरोधी बने रहेंगे। चूंकि आर्थिक स्थितिवश अधिकांश भावुक मानव ऐसे दुष्टबुद्धियों के ही समर्थक बने रहते हैं, अतएव अन्ततोगत्त्वा सुबुद्धि मानव का सहयोग-प्रयास व्यर्थ ही सिद्ध होगा। उदाहरण उसी महाभारत से पूछिए। भगवान् कृष्ण का दुष्टबुद्धि दुर्य्योधन के सहयोग प्राप्त करने का सम्पूर्ण प्रयास व्यर्थ ही गया और अन्ततोगत्त्वा पाण्डवों को युद्ध जैसे भयानक काण्ड का ही साम्मुख्य प्राप्त करना पड़ा। कौन नहीं जानता कि कौरव-सेना के प्रमुख योद्धा भीष्म-द्रोण

कृपादि कौरवों की अपेक्षा पाण्डवों पर ही उनकी सद्बुद्धि के कारण विशेष स्नेह रखते थे। परन्तु दुष्टबुद्धि दुर्य्योधन के अर्थचक्र ने इन सबको अपने पाश में आबद्ध कर रक्खा था। फलस्वरूप किसी स्नेही ने पाण्डवों का इच्छा रहते भी साथ न दिया। अपि तु, समरभूमि में उन्हीं स्नेही भीष्मादि ने जी भरकर पाण्डवसैन्य का दलन किया। यह तो पाण्डवों का सौभाग्य था कि उनके संरक्षक स्वयं भगवान् थे। यदि भगवान् का अनुग्रह पाण्डवों को न प्राप्त होता, तो उनकी क्या स्थिति होती? प्रश्न ही रोमाञ्चकारी है। इस ऐतिह्य उदाहरण से हमें इस तथ्य पर भी पहुँचना पड़ा कि दुष्टबुद्धि लोग सद्बुद्धि निष्ठावानों के नाश के लिए सदा सज्जीभूत रहते हैं। परन्तु सद्बुद्धियों की दृढनिष्ठा के प्रभाव से स्वयं अन्तर्य्यामी जगदीश्वर उन सद्-बुद्धियों की उन दुष्टबुद्धि आततायियों से रक्षा किया करता है।

उक्त तथ्य का उस भावुकता से सम्बन्ध है, जिसका एकमात्र ईश्वर ही अवलम्ब बना करता है। सच पूछा जाय, तो निष्ठाजगत् में, व्यवहार जगत् में, राजनैतिक क्षेत्र में ऐसे तथ्य का कोई महत्त्व नहीं है। पाण्डवों में भावुकता थी। इसी भावुकता में पड़कर उन्होंने अपना राज्य खोया था। भगवान् कृष्ण पाण्डवों की इस भावुकता के ही विरोधी थे, जैसा कि लेखा-रम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। भगवान् ने युद्धक्षेत्र में पाण्डवों की भावुकता का निराकरण किया एवं उनमें निष्ठा का समावेश किया। यही निष्ठा पाण्डवों के जयलाभ का कारण बनी। स्मरण कीजिए अर्जुन की उस भावुकता का जिसने युद्धारम्भ में ही अर्जुन में धर्म्मभीरुता उत्पन्न कर दी थी। 'राम राम! इस युद्ध में अपने ही बन्धुवर्ग को मार कर क्या मैं पाप का भागी बनूं? नहीं भगवन्! नहीं। मैं इनसे युद्ध नहीं कर सकता'। गीतोपदेश द्वारा अर्जुन की भावुकता का पलायन हुआ। उसने यह समझा कि आततायी कोई भी-कैसा भी स्नेही क्यों न हो, उसे मार डालने में ही कल्याण है। आगे चलकर कर्ण के रथचक्र के भूगर्भ में प्रविष्ट हो जाने पर पुनः अर्जुन में भावुकता का उदय होता है। कहने लगता है-भगवन्! शस्त्र-शून्य शत्रु

पर आक्रमण करना पाप है । कर्ण को पहले संभल जाने दीजिए । तत्पश्चात् प्रहार करूंगा । भगवान् को पुनः अर्जुन को उद्बोधन कराना पड़ा, तब कहीं जाकर अर्जुन कर्ण पर प्रहार कर सका । द्रोणवध प्रसङ्ग पर 'अश्वत्थामा हतः' रूप से भगवान् को युधिष्ठिर की भावुकता पर प्रहार करना पड़ा । दुर्य्योधन-भीम के गदायुद्ध प्रसङ्ग में कटिप्रदेश से नीचे गदा-प्रहार का सङ्केत करते हुए भगवान् को भीम की भावुकता पर चोट लगानी पड़ी । इस प्रकार पाण्डवों के समस्त जीवन में भगवान् उन्हें उनकी नाशकारिणी भावुकता से सचेत करते रहे । यदि आरम्भ से ही पाण्डव भावुक न होते, तो क्यों महाभारत का प्रसङ्ग उपस्थित होता ! यदि युद्धभूमि में भगवान् पाण्डवों की इस भावुकता का विरोध कर उन्हें निष्ठा से कार्य्य लेने के लिए विवश न करते, तो क्या पाण्डव विजयी बन जाते ? नहीं, सर्वथा नहीं, अतएव हमें कहना और मानना पड़ेगा कि–'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**'–इस निष्ठा सिद्धान्त के अनुसार सद्बुद्धि निष्ठावान् मानव को भी अपने स्वार्थ के लिए नहीं अपि तु, लोककल्याण के लिए अवश्य ही उस दुष्टबुद्धि की ही भाँति बुद्धिव्यापार से काम लेना चाहिए । वैसे असदुपाय जिनके अनुगमन से इसे आत्मपतन की आशङ्का रहती है, स्वयं न कर उन उपायों के प्रयोक्ता अधिकारियों से वह चिकित्सा करानी चाहिए । '**कण्टकं कण्टकेनैव समुद्धरेत्**'–'**विषस्य विषमौषधम्**' का अनुगमन करना चाहिए । विश्वास कीजिए; सद्बुद्धि निष्ठावान् थोड़ी सतर्कता से काम लेता हुआ सुन्दोपसुन्दन्याय से दुष्टबुद्धियों का दलन करता हुआ लोकवैभव भी प्राप्त कर लेता है एवं आत्मकल्याणसाधन भी कर लेता है । दुष्टबुद्धि के पास जहाँ केवल बुद्धिबल है; वहाँ सद्बुद्धि के पास बुद्धिबल के साथ-साथ विद्याबल भी है । दुष्टबुद्धि यदि अर्थबल से भावुक समाज का सहयोग प्राप्त कर सकता है, तो सद्बुद्धि अपने विद्याबल से, वाणीबल से भावुक समाज को प्रभावित कर सकता है । संसार को झुकना पड़ता है, झुकाने वाला चाहिए । भगवान् कृष्ण की अवतारमर्य्यादा को थोड़ी देर के लिए छोड़ते हुए उन्हें

विशुद्ध मानव मानकर यदि उनके जीवन-स्वरूप पर हम दृष्टि डालते हैं तो श्रीकृष्ण हमें विशुद्ध निष्ठावान् सद्बुद्धि मानव ही प्रतीत होते हैं। बुद्धि की उपेक्षा करने वाले सद्बुद्धि मानव दुष्टबुद्धियों द्वारा सदा सताए गए हैं, सताए जाएँगे। कारण, वे सद्बुद्धि धर्म्मभीरुता-आत्मकल्याण-परलोकसुख-आदि के चक्र में फँसकर केवल विद्याबल को ही प्रधान मान बैठते हैं, उपेक्षा कर देते हैं उस बुद्धिबल की, जिसके बिना इस लोक में सुख से जीना उन सद्बुद्धियों के लिए कठिन हो जाता है। मानवश्रेष्ठ (पुरुषोत्तम) श्रीकृष्ण ने सद्बुद्धियों को यही सिखाया कि वे अपने अन्तर्जगत् में भावुकता के साथ-साथ निष्ठा को भी दृढमूल बनावें। विद्या के साथ-साथ बुद्धि को भी अपनावें। धर्म्म के साथ-साथ राजनीति का भी समन्वय करें। श्रीकृष्ण ने अपने व्यावहारिक जीवन के द्वारा भी इसी बुद्धिनिष्ठा की शिक्षा प्रदान की एवं अपने सुप्रसिद्ध गीतोपदेश के द्वारा भी–**'ददामि बुद्धियोगं तम्'–'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'–'बुद्धियोगमुपाश्रित्य'**–इत्यादि रूप से इसी बुद्धियोगनिष्ठा का समर्थन किया। देश का दुर्भाग्य है कि अपनी स्वाभाविक भावुकता में पड़कर भारतीय मानव आज श्रीकृष्ण की उस बुद्धियोगनिष्ठा का तत्त्व पुनः भुला चुका है जिस निष्ठा के जागरूक रहते संसार की कोई भी शक्ति इस देश को परतन्त्र न बना सकती थी।

हाँ तो, अब हमें यह कहना और मानना पड़ा कि दुष्टबुद्धि का लक्ष्य जहाँ केवल लोकवैभव है, वहाँ सद्बुद्धि का लक्ष्य आत्मकल्याणानुगत लोक-वैभव है। सद्बुद्धि को ही भारतीयभाषा में धर्म्मात्मा कहा गया है। धर्म्मात्मा पूर्ण निष्ठावान् है। **'या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां सा चातुरी चातुरी'**–के अनुसार धर्म्मानुगता चातुरी (धर्म्मसम्मता नीति, नीतिसम्मत धर्म्म) धर्मिष्ठ-नैतिक निष्ठावान् को लोक-परलोक–दोनों से मुक्त रखती है। धर्म्मात्मा यदि दुःखी है तो वह धर्म्मात्मा ही नहीं है। भावुकता में पड़कर धर्म्म अधर्म्म बन जाता है एवं भावुकतामूलक ऐसा धर्म्म ही अधर्म्म-कोटि में आकर दुःख का कारण बन जाता है। निष्ठानुगत अधर्म्म धर्म्म

बन जाता है एवं निष्ठामूलक ऐसा अधर्म्म भी धर्म्मकोटि में आकर सुख का कारण बन जाता है। उदाहरण के लिए 'दया' को ही लीजिए। 'दया' एक धर्म्म है। परन्तु भावुक के लिए यही दया धर्म्म न रहकर अधर्म्म बनती हुई उस दयालु के दुःख का कारण बन जाती है। एक दुष्टबुद्धि मानव जीविकान्वेषण करता हुआ किसी भावुक के देश में पहुँचता है। प्रत्यक्ष में वह दुष्टबुद्धि मानव अपनी ऐसी दयनीय स्थिति प्रदर्शित करता है कि भावुक मानव दयाविभोर बन जाता है। इस प्रत्यक्षस्थिति से प्रभावित होकर भावुक इसे आश्रय दे देने की भावुकता कर बैठता है। कालान्तर में इसी का आश्रय पाकर बलवान् बना हुआ वह अतिथि इस दयालु का सर्वस्व अपहरण कर लेता है। इस प्रकार इस भावुक का दया नामक धर्म्म ही निष्ठा के अभाव में कालान्तर में अधर्म्म बनता हुआ इसके नाश का कारण बन बैठता है। ठीक इसके विपरीत निष्ठावान् व्यक्ति के पास यदि कोई वैसा दुष्ट अतिथि भावप्रदर्शन कर दया भिक्षा चाहता है तो परिणामदर्शी निष्ठावान् इससे अणुमात्र भी प्रभावित नहीं होता। अपि तु, उस समय वह दया के ठीक विपरीत अदया-तिरस्कार दिखलाकर उसको टाल देता है। फलतः अदया-रूप अधर्म्म इसका सामयिक धर्म्म बन कर इस निष्ठावान् को भावी सङ्कट से बचा लेता है। सद्बुद्धि निष्ठावान् सतर्कता से काम लेता हुआ कभी धोखा नहीं खाता। यदि वह कभी असफल हो भी जाता है, तो ईश्वर पर, किंवा समाज पर दोषारोपण नहीं करता। अपि तु, वह इसे अपनी ही सम्पर्क दोषमूला भावुकता का दोष मानता है और भविष्य के लिए सावधान बन जाता है। निष्ठावान् स्वयं अपनी रक्षा आप करता है, वह स्वावलम्बी है, पुरुषार्थी है। दुःख का क्या सामर्थ्य है कि जो उसके निष्ठाप्राङ्गण में प्रवेश कर सके। वह सदा सुखी रहता है। वह न स्वयं धोका खाता, न दूसरों को धोका देता। उसमें महत्त्वाकांक्षा नहीं, इसलिए वह असदुपायों की उपेक्षा कर देता है। उसे सुखपूर्वक जीवित रहना है, इसलिए वह सदुपायों से लोकसंग्रह सुरक्षित रखता है। संसार की बडी से बडा प्रतिष्ठा

जहाँ उसे व्यामोह में नहीं डाल सकती, वहीं बड़ी से बड़ी निन्दा भी उसे प्रभावित नहीं कर सकती। संसार बदलता रहता है, बदलते संसार के साथ उसका सम्बन्ध भी है, परन्तु वह अपने निष्ठारूप से अचल है, दृढ पाषाण शिला है और यही सद्‌बुद्धि निष्ठावान् की कृतकृत्यता है–जिसका राजनीतिगर्भित भारतीय धर्म्मशास्त्रों में 'मानवधर्म्म' नाम से विस्तार से विश्लेषण हुआ है। उभययुक्त (भावना-निष्ठायुक्त) उभयलोक कल्याणाकांक्षी, अतएव सद्‌बुद्धि अभ्युदय-निःश्रेयस् बुद्धिशाली ऐसा मानव चूंकि सदा शान्त रहता है, अतएव यह भी दुष्टबुद्धि की भाँति स्वस्थ रहता है। दोनों की स्वस्थता में अन्तर यही है कि दुष्टबुद्धि का मेद जहाँ अव्यवस्थितरूप से प्रवृद्ध रहता है, वहाँ सद्‌बुद्धि का मेद सुव्यवस्थित रहता है। स्थूल दोनों हैं। एक सुडौल स्थूल है, उसके साक्षात्कार से चित्त में आह्लाद होता है। दूसरा बेडौल स्थूल है, उसके साक्षात्कार से ग्लानि होती है। सद्‌बुद्धि सदा समानदृष्टि रखता है, दुर्बुद्धि की दृष्टि क्षण क्षण में बदलती रहती है। स्थूलकाय-स्वस्थ-सद्‌बुद्धि को भोजन-शयन-कथन-गमन-दर्शन-हसन आदि वृत्तियों में कोमलता, मधुरिमा रहती है। पीनकाय-स्वस्थ-दुष्टबुद्धि की प्रत्येक वृत्ति में कठोरता-कटुता रहती है। पहला भूश्रृङ्गार है, तो दूसरा भूभार है। इस विश्लेषण के आधार पर ऐसे सद्‌बुद्धि निष्ठावान् स्वस्थ-सुन्दर मानव के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है—

१–सद्‌बुद्धि निष्ठावान् मानव सदा (अप्रिय सत्य का परित्याग करता हुआ) प्रिय सत्य का, स्पष्टवादिता का अनुगमन करता है।

२–यह मानव मान-बड़ाई-महत्त्वाकांक्षा-लोकैषणा से घृणा करता हुआ चूंकि अपनी निष्ठा पर दृढ रहता है, अतएव भावुक समाज इसका आरम्भ में विरोधी बना रहता है।

३–यह मानव न लोकप्रशंसा से मोहित होता, न लोकनिन्दा से दुःखी बनता। अपि तु, सदा अपने लक्ष्य पर आरूढ रहता हुआ यह निराश्रय स्वावलम्बी नित्य-तृप्त बना रहता है।

४–यह मानव; मानव-समाज की परिस्थिति-प्रवाह के अनुसार स्वयं कभी न बदल कर परिस्थिति को अपना दास बनाता हुआ ही लक्ष्य पर अग्रेसर होता है।

५–यह मानव न किसी का दास बनता, नहीं किसी का प्रभु। अपितु, यह मानवमात्र के साथ समदर्शनमूला मैत्री सम्बन्ध सुरक्षित रखता है।

६–भावुकसमाज के शिष्टवर्ग का समर्थक यह निष्ठावान्, अशिष्टवर्ग की उपेक्षा करता रहता है, अतएव अशिष्ट-दुष्टबुद्धि वर्ग सदा इस निष्ठावान् का विरोधी बना रहता है।

७–यह निष्ठावान् अपनी असफलता का दोष स्वयं वहन करता हुआ मानव समाज को इसके उत्तरदायित्व से बचाता रहता है।

८–और यों यह निष्ठावान् सद्बुद्धि मानव आत्मदृष्टया तथा लोकदृष्टया, उभयथा शान्त-सुसम्पन्न बनाता हुआ अपने आपको कृतकृत्यता की ओर अग्रेसर करता रहता है।

विद्यानुगता भावुकता एवं बुद्ध्यनुगता निष्ठा, दोनों का समन्वय क्वाचित्क है। यदि दोनों का एकत्र समन्वय हो जाता है तो वह मानव संसार में अद्‌भुत शक्तिशाली मानव बन जाता है। ऐसे मानव में यदि महत्त्वाकांक्षा का उदय हो जाता है तो वह संसार की मानवता की स्वाभाविक शान्ति भङ्ग करने वाला भयानक दुष्टबुद्धि मानव बन जाता है। मधुकैटभ, शुम्भ-निशुम्भ, रावण, बाणासुर, शिशुपाल, जरासन्ध, शकुनि, जयचन्द्रादि अतीतमानव इसी श्रेणि के उदाहरण माने जा सकते हैं। यदि ऐसे मानव में महत्त्वाकांक्षा का उदय नहीं होता तो वह संसार की मानवता की स्वाभाविक शान्ति का संरक्षण करने वाला सद्‌बुद्धि मानव बन जाता

है। जिन अवतारपुरुषों का, महर्षियों का भारतीय प्रजा अद्यावधि संस्मरण करते रहना अपना पावन कर्त्तव्य मान रही है-वे सब महापुरुष इसी श्रेणी के उदाहरण माने जा सकते हैं। पूर्व में हमने दुष्टबुद्धि-सद्बुद्धि-इस नामकरण के आधार पर इन्हीं दोनों वर्गों के इतिवृत्त पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में यह ओर स्पष्ट कर लेना चाहिए कि ऐसा समन्वय संसार में सर्बथा सीमित ही रहता है। क्योंकि पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि संसार एक स्थिति है। स्थिति का पूर्वाधार भूत है, उत्तराधार भविष्य है। भूतानुगत मानव भावुक है, भविष्यदनुगत मानव निष्ठावान् है। इन दो स्वतन्त्र किन्तु परस्पर अत्यन्त विरोधीभावों से ही संसार की स्थिति सुरक्षित है। यदि इन दोनों विरोधी भावों का (भूतानुगता भावुकता तथा भविष्यदनुगता निष्ठा का) एकत्र अनुकूल समन्वय हो जाता तो संसार दुःखी-दुष्टमानवों की आवासभूमि न होकर विशुद्ध सिद्ध पुरुषों का वैकुण्ठधाम बन जाता और यदि एकत्र प्रतिकूल समन्वय हो जाता तो संसार दुष्टबुद्धि-नरराक्षसों का क्रीडाक्षेत्र बन जाता और सदा संसार की मानवता पददलित बनी रहती। परन्तु ऐसा होता नहीं। विश्वम्भर की इच्छा से विश्वस्थिति के समतुलन के लिए उभयनिष्ठ सद्बुद्धि सिद्धपुरुषों का एवं उभयनिष्ठ दुष्टबुद्धि नरराक्षसों का परिगणित संख्या पर विश्राम होता रहता है। 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये' के अनुसार सद्बुद्धि सिद्ध भी कश्चित्-मर्य्यादा से ही मुक्त है एवं रावण-कंसादि दुष्टबुद्धि नरराक्षस भी कभी कभी ही अवतीर्ण होते हैं। इस विश्लेषण के द्वारा हमें निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि संसार के (आरम्भ में कथित) चार प्रकार की मानव श्रेणियों में से उभयनिष्ठ सद्बुद्धि एवं उभयनिष्ठ दुष्टबुद्धि-ये दो वर्ग तो सर्वथा सीमित हैं एवं केवल भावुकतानुगत भूतप्रेमी भावुक तथा केवल निष्ठानुगत भविष्यत्-प्रेमी निष्ठावान्-ये दो श्रेणियाँ ही विश्व में प्रधान हैं। मध्यस्थ वर्त्तमानवादी का निष्ठावान् में ही अन्तर्भाव है। इन दोनों में भी भावुकसमाज का प्राचुर्य्य है एवं निष्ठासमाज सीमित है। कारण पूर्व में

बतलाया जा चुका है। मानव स्वभावतः मनोयुक्त इन्द्रियपथानुवर्त्ती है। इन्द्रियों का रुख बहिर्मुख है, अतएव मानव स्वभावतः परद्रष्टा ही बना रहता है। निष्ठा का बुद्धि से सम्बन्ध है। बुद्धि अन्तर्मुखी है, अतएव स्वद्रष्टा बुद्धिमान् विरले ही होते हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि–'संसार में अधिक संख्या भावुक मानवों की है।' भावुकता परिस्थिति का विवेक नहीं होने देती। विवेकाभाव ही दुःख का मूलकारण है, अतएव यह भी सिद्ध विषय है कि–'संसार में अधिक मानव दुःखी है।' अतएव सिद्ध हो जाता है कि–'भावुकता दुःखप्रवर्त्तिका है एवं निष्ठा सुख प्रवर्त्तिका है।' आइए प्रसङ्गोपात्त इन दोनों श्रेणियों का भी उदाहरणों के द्वारा साक्षात्कार कर लिया जाय।

भावुकता और निष्ठा मानवजीवन के लिए गुण है अथवा दोष? दोनों में कौन तत्त्व अच्छा है, कौन बुरा? इत्यादि प्रश्नों पर अभी विचार न करते हुए पहले भावुक तथा निष्ठावान् मानव के स्वरूप की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। भावुक मानव की मानव संस्था में सम्पूर्ण तत्त्व सूक्ष्म होते हैं, केवल एक तत्त्व स्थूल होता है। उधर निष्ठावान् मानव की संस्था में सम्पूर्णतत्त्व स्थूल होते हैं, केवल एकतत्त्व सूक्ष्म होता है। भावुक का एक भी स्थूलतत्त्व उसके अनेक भी सूक्ष्मतत्वों को परास्त कर उसे दुःखी बना देता है। निष्ठावान् का एक भी सूक्ष्मतत्त्व उसके अनेक स्थूलतत्त्वों को परास्त कर उसे सुखी बना देता है॥ सूक्ष्मता सुख की जननी है, स्थूलता दुःख की जननी है। अन्तिम छोर का का स्थूल भावुक दुःखी है। अन्तिम छोर का सूक्ष्म निष्ठावान् सुखी है। कैसे? समन्वय कीजिए!

भावुक वह मानव है, जो अपनी इन्द्रियों के द्वारा मन से अधिक काम लिया करता है। चञ्चल-गतिप्रकृतिक-चन्द्रमा से अन्न द्वारा उत्पन्न सोम्य मन स्वभावतः दूरङ्गम है, चञ्चल है, अस्थिर है। अपनी इस

अस्थिरता के कारण मन सदा शीघ्रगामी (जल्दबाज) बना रहता है।
कभी यह कर, कभी वह कर, कभी इसकी चिन्ता, कभी उसकी चिन्ता, इस प्रकार की बाह्यवृत्तियों के संघर्ष में आकर स्वभावतः चञ्चल मन और भी अधिक गतिशील बन जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि इस संघर्ष से भावुक मन भी सूक्ष्म बन जाता है, इन्द्रियाँ भी अभ्यासवश पैनी बन जाती हैं, इन्द्रिय द्वारा शारीराग्नि के अधिक मात्रा में खर्च हो जाने से शरीर भी सूक्ष्म (दुर्बल-कृश) बन जाता है। इस दुर्बलता के ही कारण इसका कृश शरीर रुद्राग्नि लक्षण क्रोध का संवरण करने में असमर्थ हो जाता है। मनोवेग प्राधान्य से नवीन कामनाएँ (इच्छाएँ) भी इसे चारों ओर से वेष्टित कर लेती हैं। इन अनेक वृत्तियों के एक साथ सञ्चालित रहने के लिए कभी कभी इसका मन नितान्त उदासीन-सा, स्तब्ध-सा, हक्का-बक्का सा, किंकर्त्तव्यविमूढ सा भी बनता रहता है। इस प्रकार अस्थिर मन की अस्थिर वृत्तियों के संघर्ष से शरीर दौर्बल्यलक्षण शरीरसूक्ष्मता, मनःशीघ्रानुधावनलक्षणा मन की सूक्ष्मता, इन्द्रियचाञ्चल्यलक्षणा इन्द्रिय सूक्ष्मता के साथ साथ इस मनोवशवर्त्ती भावुक मानव पर काम-क्रोध-मोह—इन तीन शत्रुओं का भी आधिपत्य हो जाता है। भावुक मानव को आप (अपवाद स्थलों को छोडकर) शरीर से छरछरा दुबला पाएँगे, उसकी मानस-स्मृति आप सूक्ष्म पाएँगे जो कुछ वह देखेगा-सुनेगा, तत्काल उसकी स्मृति में सब कुछ ज्यों का त्यों खचित हो जाएगा। आप इसे अनेक इच्छाओं का (काम का) अनुगामी देखेंगे। बात बात पर इसे क्रोधाविष्ट पावेंगे एवं अधिकांश में इसे मोहाविष्ट (खिन्न) पाएँगे। इस प्रकार भावुक में आप यश सब गुण ही गुण प्राप्त करेंगे। परन्तु इसका सबसे बडा दोष, जो आप देखेंगे, वह यह होगा कि इसमें बुद्धयनुगता निष्ठा का, आस्था का, स्थितप्रज्ञता का अभाव रहेगा। यह तत्काल ही प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर चाहे जिस पर श्रद्धा-विश्वास कर लेगा। परन्तु कालान्तर में यह उसी पर अश्रद्धा-अविश्वास कर बैठेगा। क्यों ? इसलिए कि उसने मन की चञ्चल प्रज्ञा में स्थिरता डालने

वाली स्थिरलक्षणा बुद्धि को मन का दास बना लिया है। दूसरे शब्दों में वह बुद्धिव्यापाररूप विवेक से काम लेना जानता ही नहीं। ठाले बैठा मानव जैसे स्थूल बन जाता है, वैसे स्वतन्त्ररूप से स्वव्यापार-प्रसार में अवरुद्ध की गई इस भावुक की बुद्धि भी स्थूल बन जाती है। बुद्धि की इसी स्थूलता के कारण परिस्थिति के विवेक में असमर्थ रहता हुआ यह भावुक मानव किसी भी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच सकता। भावुक अपनी भावुकता से अग्रणी सर्वत्र बन जाता है, परन्तु परिणाम फल पर नहीं पहुँच सकता। दूसरे शब्दों में वह आरम्भ करना जानता है, समाप्त करना नहीं जानता। आप भावुक से कुछ भी पूछ देखिए। तत्काल वह बोलना आरम्भ कर देगा। परन्तु अपनी वाग्धारा को वह कहाँ समाप्त करे, यह वह नहीं जानता। फलतः भावुक की कोई भी बात, कोई भी कार्य कभी पूरा (सफल) होता ही नहीं। इस असफलता के कारण अन्त में आप उसे दुःखी पावेंगे। आपने यह देखा कि भावुक मानव दुःखी है अपने दुःख से। परन्तु वह इस दोष को भी (अविवेकाभाव से) स्वीकार न करेगा। वह अपने दोष का अनुभव कर ही नहीं सकता। ना हीं, वह अपनी इस असफलता को असफलता ही मानता। 'हमारा क्या बिगड़ गया, हमें किसकी परवाह है हमारा तो यों ही चलता रहेगा।' इस प्रकार की भावुकभाषा द्वारा भावुक मानव अपने आपको सब प्रकार की जिम्मेवारियों से बचाता रहता है। किसी भी कार्य्य में आप किसी भावुक का सहयोग लेने की भूल कर डालिए। आप देखेंगे, वह भावुक अगुआ तो तत्काल बन जाएगा, परन्तु उस कार्य्य को अन्त तक निभाने का उत्तरदायित्व वह कभी अपने सिर न लेगा। वह कहता रहेगा— 'हम काम करेंगे, करते रहेंगे, परन्तु जिम्मेवारी नहीं लेंगे। इसलिए कि उसमें उत्तरदायित्व निर्वाह की योग्यता ही नहीं होती। उत्तरदायित्व का कार्यसफलता से सम्बन्ध है। कार्य्यसफलता भावुक से सर्वथा असंस्पृष्ट है। विश्वास कीजिए जिस कार्य्य का आरम्भ भावुक द्वारा होगा, जिसमें सहयोगी भी अधिकांश में भावुक ही रहेंगे, वह कार्य्य कभी सफल न होगा।

मानव का मन भावुक है, कल्पनाप्रधान है, अतएव दुर्बल है। इसी दुर्बलता के कारण वह प्रत्यक्षापराध सहने में असमर्थ है। या तो भावुक का मन अतीत-घटनाओं की चर्वणा करता रहेगा, जिनकी चर्वणा सर्वथा निरर्थक है। अथवा तो वर्त्तमान से प्रभावित होकर वह आगा-पीछे सोचे विना तत्काल अपना विवेकशून्य निर्णय कर डालेगा, जो निर्णय परिस्थिति के विपरीत जाता हुआ सर्वथा निरर्थक ही नहीं-अपि तु, लाभ के स्थान में हानि का कारण सिद्ध होगा। उदाहरण के लिए भावुक मानव के सम्मुख एक कण्ठीमालाधारी-तिलक छापे वाला-मौनव्रत धारण करने वाला-एक बकवृत्ति भक्त आता है। भावुक मानव उसके आधन्त की परिस्थिति का विवेक किए विना उसके बाह्य आडम्बर से तत्काल प्रभावित हो जाता है। इस प्रत्यक्ष से प्रभावित होकर भावुक इसे निरा सन्त मान बैठता है। बकवृत्ति सन्त इसकी भावुकता से पर्य्याप्त लाभ उठा लेता है और यों भावुकतावेशाविष्ट भावुक परिस्थिति विवेक में असमर्थ रहता हुआ ठगा जाता है। इसी के सम्मुख एक ऐसी स्त्री सहायता के लिए याच्ञा करने आती है, जो लोक-समाज में अपने दुश्चरित्रों के कारण हीन घोषित हो रही है। भावुक मानव इसकी परिस्थिति का विचार न कर इसके प्रत्यक्ष-चरित्र से प्रभावित होकर इसे निराश लौटा देता है। भावुक में यह विवेक ही नहीं कि वह यह सोच सके कि सर्वथा असहाय इस नारी ने अपने निराश्रित बच्चों की जीवनरक्षा के लिए, अपने मातृपद को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए विवश बनकर यदि इसने असत्पथ का आश्रय लिया है, तो इसमें इसका कोई अपराध नहीं। अपि तु, यह विशुद्ध समाज का अपराध है। तात्पर्य्य, भावुक मानव के सम्पूर्ण निर्णय परिस्थिति की जांच किए विना केवल भावुकता के आधार पर ही होते हैं। भावुक जानता है कि अमुक दुष्टबुद्धि गोहिंसक है। वही दुष्टबुद्धि किसी घटनावश यदि इसी भावुक की शरण में आकर यह कहने लगता है कि-'आप बडे दयालु हैं, हम आपकी गाय हैं, हम पर दया कीजिए, हमारी रक्षा कीजिए' तो भावुक इस प्रार्थना से प्रभावित होता

देखा गया है। भावुक भूल जाता है, जो दुष्ट बुद्धि स्वयं दया पर विश्वास नहीं करता, जो गोहिंसा को अपना धर्म्म मान रहा है, उसके मुख से निकली दया की भिक्षा और गौ का माध्यम केवल बनावटी है। भावुक भाषा-निर्म्माण में बड़े चतुर होते हैं। ऐसे अवसरों पर वे ये उद्गार प्रकट किया करते हैं कि-'दुष्ट यदि दुष्टता नहीं छोडता, तो हम भी अपनी सज्जनता क्यों छोडें ? उसका धर्म्म यदि हिंसा है, तो हमारा धर्म्म दया है। हमें अवश्य आश्रित पर दया करनी चाहिए, चाहे वह दुष्टबुद्धि ही क्यों न हो।' ऐसे भावुक उद्गारों में क्या तथ्य है-यह भी मीमांसा कर लीजिए।

मानवतत्त्वविश्लेषक आचार्य्यों ने कहा-'जो जिसमें गुण है-वही उसमें दोष है एवं जो जिसमें दोष है-वही उसमें गुण है। उदाहरण के लिए 'दया' नामक धर्म्म को ही लीजिए। भावुक मानव का यह गुण है कि वह स्वभावतः दयालु होता है। उससे दूसरे का दुःख नहीं देखा जाता। स्वागत करते हैं हम भावुक के इस दया गुण का। परन्तु यह दया गुण किसी विशेष सीमापर्य्यन्त ही अपने स्वरूप से सुरक्षित रहा करता है-जिस सीमा को 'मर्य्यादा' कहा जाता है। धर्म्म एक मौलिक वस्तुतत्त्व है, मर्य्यादा इस मौलिक धर्म्मतत्त्व का स्वरूपसंरक्षक बाह्य वेष्टन है। वेष्टनस्थानीय यही मर्य्यादासूत्र 'नीति' कहलाया है। नीतिलक्षण मर्य्यादा-किंवा मर्य्यादा-लक्षण नीति ही धर्म्म का धर्म्मत्व सुरक्षित रखती है। धर्म्मी को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखता हुआ धर्म्मी को अभ्युदय लोकसम्पत् निःश्रेयस (आत्म-सम्पत्) द्वारा विकसित करता हुआ तत्त्व ही धर्म्म है। इस धर्म्म का तथा -कथित अभ्युदयनिःश्रेयसप्रवर्त्तकत्व ही धर्म्मत्व है। ऐसा यह धर्म्मत्व नीति से ही सुरक्षित रहा करता है, अतएव हम नीति को धर्म्म का भी धर्म्म कहने के लिए तय्यार हैं। जिस क्षण धर्म्म नीति का, मर्य्यादा का अतिक्रमण कर जाता है, उसी क्षण वह अमर्य्यादित-नीतिच्युत धर्म्म अपना धर्म्मत्व खोता हुआ अधर्म्म बन जाता है। विश्वास कीजिए धर्म्म अधर्म्म से एवं अधर्म्म धर्म्म से कोई पृथक् वस्तुतत्त्व नहीं है। मध्य में मर्य्यादा

है। मर्य्यादा-युक्त धर्म्म धर्म्म है, मर्य्यादाच्युत वही धर्म्म अधर्म्म है। हिंसा एक अधर्म्म है। परन्तु मर्य्यादा-युक्त हिंसा रूप अधर्म्म भी धर्म्म है। विष अमृत से भिन्न नहीं है। मर्य्यादित वही भोजन अमृत है, अमर्य्यादित वही भोजन विष है। धर्म्म का धर्म्मत्व है धर्म्मी का सर्वविध कल्याण करना। दुष्ट पर दया करना मर्य्यादा विरुद्ध है। क्योंकि, दण्डय दुष्ट इस दया से आगे चलकर अनुचित लाभ उठाता हुआ पहले उस दयालु पर ही प्रहार करता है। एक मद्यपि पैसों के अभाव में आपके सामने गिड़ गिड़ाता है–कहता है, आज मुझे पैसे दे दीजिए–यदि आज शराब न मिली तो मर जाऊँगा। आप दया कर उसे पैसे दे देते हैं। स्मरण रखिए वह मद्यपि सदा के लिए आपको तंग करता रहेगा। कोई आश्चर्य्य नहीं, आपके किसी समय पैसे न देने पर वह आप पर प्रहार भी कर बैठे। इस प्रकार ऐसी अमर्य्यादित दया आपके दुःख का कारण बन जाएगी। क्या धर्म्म कभी दुःख का कारण बनता है ? नहीं। फिर यदि ऐसी दया आपके दुःख का कारण बन रही है तो विश्वास कीजिए। भावुकतामूला ऐसी अमर्य्यादित दया धर्म्म नहीं, अपि तु अधर्म्म है। इसीलिए तो हमें कहना पड़ा कि जो जिसमें गुण है, वही नीतिविरुद्ध जाता हुआ उसमें दोष है। इसी प्रकार यदि क्रूरता हिंसादि दोष किसी में हैं तो मर्य्यादा से सीमित होते हुए वे दोष ही उसके गुण हैं। शास्त्र कहता है धर्म्म से सुख मिलता है। उधर अमर्य्यादित सत्य-आग्रह (सत्याग्रह) अहिंसा, दया को आगे कर भावुक समाज दिन-दिन दुःखी बनता जा रहा है। कैसे हम ऐसे आग्रहपूर्ण सत्य को, भावुकतापूर्ण अहिंसा को दुष्टों के प्रति दिखाई गई दया को सर्वथा नीतिविरुद्ध जाने से धर्म्म कहें ? सज्जनता नामक धर्म्म सज्जनों के लिए ही सीमित मर्य्यादित है। असज्जन दुष्ट कभी इस सज्जनता का पात्र नहीं है। शास्त्र कहता है–ऐसे वैडालव्रतिक-धूर्त्त-शठ-दुष्टबुद्धियों का तो तुम वाणी से भी सत्कार मत करो–'वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्'। 'वह दुष्टता नहीं छोडता, तो हम सज्जनता क्यों छोडें'–इस भावुक उद्‌गार की यही तथ्यपूर्ण मीमांसा है। इसी भावुक

भाषा ने मानवता का संहार किया है, जिसके प्रतीक हैं भावुक दुःखी मानव, विशेषतः भावुक हिन्दूजाति।

सर्वसाधारण ने मूर्खता और विद्वत्ता की जो परिभाषा मान रक्खी है, व्यवहार जगत् में, विशेषतः भावुकता एवं निष्ठा के सम्बन्ध में उस परिभाषा का कोई महत्त्व नहीं है। सर्वसाधारण ने शिक्षित-पठित को तो विद्वान् मान रक्खा है एवं अशिक्षित-अपठित को मूर्ख मान रक्खा है। इस मान्यता का केवल एक दृष्टि से समर्थन किया जा सकता है। शिक्षात्मक ग्रन्थों के द्वारा शिक्षित में कृत्रिम ज्ञान का समावेश हो जाता है। उसका परिचय (मालुमात) विशद बन जाता है। इस कृत्रिम ज्ञान के आधार पर शिक्षित-पठित मानव सृष्टि के गुप्त रहस्यों का—धर्म्म-राजनीति के मर्म्मों का ज्ञाता बन जाता है। गहन से गहन प्रश्न का यह इस ज्ञान के बल पर प्रश्नकर्त्ताओं का वाग्बन्धन करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। इसी कृत्रिम ज्ञान को 'विद्या' कहा जाता है। इसी विद्या के सम्बन्ध से इस ज्ञानी को विद्वान् कहना अन्वर्थ बन जाता है। ऐसा ज्ञानी मेधावी होता है, बहुश्रुत होता है, बहुदर्शी होता है, वाग्मी होता है। प्रत्येक विषय में विद्युत्गति से प्रवेश करने की इसमें योग्यता आ जाती है। उधर जिन मानवों को ग्रन्थात्मिका शिक्षा प्राप्त नहीं होती, जो अपठित रहते हैं, उन्हें मूर्ख मानना भी अन्वर्थ बन जाता है। मूर्ख मानवों में कृत्रिमज्ञान का अभाव रहता है, अतएव वे तत्वज्ञान में असमर्थ रहते हैं। उनके पास तो परमात्मा के घर से आई हुई सहज बुद्धिमात्र रहती है। वे तर्क करना नहीं जानते। सभा में बोलना नहीं जानते, किसी भी विषय को सुनकर समझ लेना भी कठिन है। यदि दुःखं सुख समझ भी लिया, तो उस विषय को चिरकाल तक इनकी मेधा धारण करने में असमर्थ है। प्रत्येक विषय पर मुंह बाए खड़े रहना ही इनकी स्वाभाविक स्थिति है। इस प्रकार इस शिक्षा अशिक्षा के दृष्टिकोण से सर्वसाधारण शिक्षित को विद्वान् कहना एवं अशिक्षित को मूर्ख कहने की मान्यता सुरक्षित रक्खी जा सकती है। परन्तु——

परन्तु मानवस्वरूपविश्लेषक तत्त्ववेत्ता कहता है कि विद्यावान्-ज्ञानी विद्वान् व्यवहारदृष्टया मूर्ख है एवं विद्याशून्य-बुद्धिमान् मूर्ख व्यवहारदृष्टया विद्वान् है। क्या विद्वान् बुद्धिमान् नहीं है? है और अवश्य है। बुद्धिबल से ही तो उसने विद्या प्राप्त की है। फिर वह मूर्ख कैसे हुआ? इसलिए कि भावुकतामूला विद्या के प्रभाव से उसकी बुद्धि निःसीम बन जाती है। वह एक बात-सोचने लगता है, सैकड़ों दृष्टिकोण उसके बुद्धिक्षेत्र में समाविष्ट हो जाते हैं। इस अमर्य्यादित बुद्धि से वह स्वयं व्यवहारजगत् में अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं कर सकता। इसकी बुद्धि से, आदेशोपदेशों से संसार लाभ उठा लेता है, परन्तु वह स्वयं इस लाभ से वञ्चित रह जाता है। दूसरों का पथप्रदर्शक यह विद्वान् स्वयं पथान्वेषण में असमर्थ बना रह जाता है। इसीलिए तो व्यवहारदृष्टया इसे हम मूर्ख कहते हैं। फलतः ऐसे भावुक विद्वान् दूसरों के लाभ की सामग्री बनते हुए स्वयं सदा हानि उठाया करते हैं। जिस विद्यागुण ने इन्हें विद्वान् बनाया, वही विद्यागुण भावुकता के कारण अमर्य्यादित बनकर इनका दोष बन गया। जो जिसका गुण है वही तो उसका दोष है। कृत्रिमज्ञानलक्षण विद्यासंस्कार से संस्कृत इस विद्वान् की बुद्धि का सहजज्ञान अभिभूत हो जाता है, अतएव यह अपने स्वार्थसाधन के लिए दूसरों का आश्रय खोजा करता है। कृत्रिम बुद्धि इसकी अवश्य तीक्ष्ण है, परन्तु सहजबुद्धि सर्वथा स्थूल है। स्थूल बुद्धि ही तो मूर्ख कहलाया है, फिर क्यों न ऐसे विद्वान् को भी मूर्ख कह दिया जाय? उधर शिक्षाज्ञान से असंस्पृष्ट अपठित मूर्ख मानव में सहज-बुद्धि सुतीक्ष्ण बनी रहती है। इसी के बल पर यह आवश्यकता-भर के लिए कृत्रिम ज्ञानियों से (विद्वानों से) उनका कृत्रिम ज्ञान उधार लेकर अपनी मर्य्यादित सहजबुद्धि से अपना स्वार्थ साधन कर लेता है। यही नहीं उधार लिए ज्ञान से यह बुद्धिमान् दो काम करता है। अपना स्वार्थ साधन इसका पहला काम होता है एवं इसी ज्ञान से उस ज्ञानी का मानमर्द्दन करते हुए उसे अपना दास बनाए रखना दूसरा काम है। आपने देखा सुना होगा कि कई बुद्धिमान् विद्वान् धनिकों के यहाँ पूजन-पाठ किया करते हैं। देवाराधन

[illegible] लिए यह कामना करता है कि 'यजमान अतुल [illegible] धकारी बन जाय'। इसका पारिश्रमिक केवल उतना ही न [illegible] न् कठिनता से उदरपोषणमात्र कर सके। कैसा अद्भुत समन्वय है! धनिक का विश्वास है, मैं पण्डितजी के ज्ञानानुगत दैवाराधन से अवश्य सम्पन्न बनूंगा। उधर विद्वान् समझ रहा है, यजमान मेरा प्रतिपालन कर रहे हैं। जिस इष्टसंतुष्टि से विद्वान् एक धनिक को सम्पन्न बनाने जा रहा है। क्या वह स्वयं इष्ट को सन्तुष्ट कर सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकता? नहीं, इसलिए कि वह विद्वान् है, भावुक है, अतएव वता अन्याश्रय के प्रतिष्ठित रहने में असमर्थ है। उसका ज्ञान-ध्यान-जप-पूजन दूसरों के लए है। अपने उसके पास है वह अमर्य्यादित ज्ञानकोष, जिसका सहजबुद्धि के न रहने से वह स्वयं उपयोग नहीं कर सकता। यही कारण है कि भावुक विद्वान् भी सदा निर्धन रहते हैं एवं निष्ठावान् मूर्ख भी सदा धन सम्पन्न रहते हैं। प्रत्यक्ष में देखिए न, आपको अशिक्षित अविद्वानों की तुलना में शिक्षित-विद्वान् ही अधिक संख्या में दुःखी मिलेंगे।

क्यों, इसलिए कि वे भावुक हैं, अतएव परद्रष्टा हैं। भावुक विद्वान्, किंवा भावुक मूर्ख ही श्रद्धा-विश्वास द्वारा ठगाया जाता है। वह भावुक सदा दूसरों की ओर ही देखता है। अपने आपको देखने का मर्य्यादित विवेक उसके पास है ही नहीं। भावुक सदा समाज के मुख की ओर देखा करता है। अहर्निश उसे यही चिन्ता बनी रहती है कि कहीं समाज उसे दोषी न ठहरा दे, अतएव वह समय-समय पर अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने की चेष्टा किया करता है। यही इसकी महती दुर्बलता है। सबल मानव कभी अपनी सफाई पेश नहीं किया करता। वह तो मानव समाज के बड़े से बड़े आक्रमण को पी जाता है। समाज की इच्छा के अनुरूप उसे अपनी स्वाभाविक इच्छाओं का दमन करना पड़ता है और समाज? समाज इसे अपने विनोद का एक खिलौना मात्र समझता है। प्रसिद्ध है कि-'शहर के दुःख से काजीजी दुबले रहते हैं।' भावुक मानव सदा इसी दुःख से दुर्बल बना

रहता है। 'पराए दुःख दूबळा' को चरितार्थ करने वाले ऐसे भावुक कभी सुखी नहीं रह सकते। भावुक सबका विश्वास कर बैठता है, परन्तु इस भावुक का कोई विश्वास नहीं करता। इसका भावुकतामूलक यह विश्वास गुण ही इसके स्वरूप का विनाशक महादोष बना रहता है। इसकी स्वाभाविक उपकारवृत्ति (भलाई करना) ही इसकी शत्रु बनी रहती है। इसीलिए तो अनुभवी निष्ठावानों ने कहा है–'**नेकी का बदला सदा बदी हुआ करता है।**' एक भावुक ब्राह्मण ने कीचड़ में फँसे सिंह की करुणा-भाषा से प्रभावित होकर उसे कीचड़ से निकाला। सिंह ने बाहर निकलते ही उसका भक्षण कर डाला। भावुक पृथ्वीराज ने गजनी के साथ अनेक बार नेकी की। परिणाम में उसे अपनी आँखें निकलवानी पड़ी। गङ्गदत्त नामक मण्डूक ने सर्प के साथ नेकी की। सर्प ने उसी के वंश को निर्मूल बना दिया। देवताओं से ही वर प्राप्त करने वाले दुष्टबुद्धि असुरों ने देवदल का ही संहार कर डाला। भावुक मानव सदा नेकी की घोषणा किया करता है। नेकी के आधार पर ही वह जीवित रहता है। क्योंकि विना नेकी किए उसे सन्तोष ही नहीं होता, अतएव यह नेकी ही परिणाम में बदी बनकर इसे खा डालती है। निष्ठावान् कहा करते हैं–'**जो जिसके आश्रय से उत्पन्न होता है, वह अपने आश्रयदाता को खाकर ही बडा होता है।**' काष्ठ से उत्पन्न अग्नि पहले उस काष्ठ को खाकर बडा (प्रज्वलित) होता है, फिर दूसरे काष्ठ की आहुति माँगता है। माता-क्रोड से उत्पन्न शिशु पहले उसी का शोषण (स्तन्यपान) कर बडा होता है, पश्चात् अन्य भोजन का अनुगामी बनता है। नेकी से उत्पन्न बदी पहले उस नेकी को ही खाती है, अतएव कहा जाता है कि–'**नेकी कर और पानी में डाल दे।**' विश्वास से उत्पन्न विश्वासघात पहले विश्वास का ही निगरण करता है, अतएव कहा जाता है–'**सबके विश्वासपात्र अवश्य बनिए, परन्तु विश्वास किसी का न कीजिए।**' भलाई से उत्पन्न बुराई पहले भलाई को ही आत्मसात् करती है, अतएव कहा जाता है कि–'**भले का संसार नहीं है।**' भला–भावुक संसार

में सुखी कैसे रह सकता है ? भावुकता के इस स्वरूप-विश्लेषण के आधार पर हमें केवल भावुक-विशुद्ध-परमार्थी-परदुःखनिमग्न–अतएव कृशकाय, आद्यन्त के दुःखी गैरजिम्मेवार ऐसे सर्वात्मना असफल मानव के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है—

१–परमार्थी भावुक परप्रत्ययन्याय से सदा पराश्रित रहता है।

२–यह भावुक अपने लिए कुछ भी न बोलकर सदा परभाषा का ही उपयोग करता है।

३–यह भावुक सबका विश्वास करता है, परन्तु न तो समाज ही इसका विश्वास करता एवं न यह स्वयं अपना ही विश्वास करता।

४–यह भावुक हानि को कभी महसूस करता नहीं, लाभ कभी देखता नहीं। इसलिए सदा हानि ही उठाता है।

५–यह भावुक प्रत्यक्ष से प्रभावित रहता है। इसके आँखें नहीं होती, कान होते हैं, अतएव यह तथ्य परनहीं पहुँच सकता, अतएव यह सदा धोखा खाता रहता है।

६–यह भावुक मेधावी, तत्त्वज्ञ बनता हुआ भी परद्रष्टा होने से मूर्ख है।

७–यह मूर्खभावुक शरीर-मन-इन्द्रियादि से सूक्ष्म है, परन्तु बुद्धि (सहजज्ञान-विवेक) से स्थूल है।

८–और यों यह मूर्खभावुक आत्म-लोकदृष्टया उभयथा सफलता से वञ्चित रहता हुआ सदा दुःख पाया करता है।

अब क्रमप्राप्त विशुद्ध निष्ठावान् का भी निष्ठापूर्ण इतिवृत्त सुन लीजिए। निष्ठावान् वह मानव है, जो शरीर-मन-इन्द्रियादि की उपेक्षा कर

सदा अपनी सहजबुद्धि से काम लिया करता है। निष्ठावान् के पास विद्या नहीं है, कृत्रिमज्ञान नहीं है। है केवल बुद्धि, सहजज्ञान और सहजज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली विवेकपूर्णा 'उपज'। चूँकि वह शरीरादि से विशेष काम नहीं लेता, अतएव उसका शरीर स्थूल है, मन सालस है, इन्द्रियानुभूति दोषपूर्ण है। परन्तु बुद्धि इसकी सदा सूक्ष्म रहती है। यह अपनी बुद्धि को सदा मर्य्यादित रखता है, अतएव इसकी बुद्धि सदा अन्तर्मुख बनती हुई इसी को देखती रहती है। इसके पास सिवाय विवेक बुद्धि के अन्य साधन का अभाव है, अतएव इसके पास सब कुछ अपने आप चला आता है। विवेकबुद्धि के प्रभाव से यह बुद्धिमान् भावुक समाज के द्वारा सम्पूर्ण साधन जुटाता हुआ अपना स्वार्थ साधन कर लेता है। इसका कोई कुछ भी नहीं होता। इसके सभी सब कुछ बने रहते हैं। यह सबका बना रहता है, परन्तु यह स्वयं किसी का नहीं बनता। प्रत्यक्षवादी नहीं, अपि तु परिणामवादी भविष्यदनुगामी (दूर की सोचने वाला) यह निष्ठावान् लाभ को लक्ष्य बनाए रहता है, हानि का अनुभव किया करता है, अतएव इसकी कभी हानि होती ही नहीं। संसार इसे भला-बुरा कुछ भी कहता रहे, यह उस ओर से सर्वथा उदासीन रहता हुआ अपने स्वार्थ पर आरूढ रहता है और यही इस निष्ठावान् की सफलता का रहस्य है।

लोकवैभव-कामुक इस निष्ठावान् के मन में सदा लोकसम्पत्ति की चर्वणा चलती रहती है, क्योंकि यह महत्त्वाकांक्षी है। इसकी यह चर्वणा ही 'लोभ' है। बुद्धिबल से सञ्चित अर्थबल इसकी बुद्धि में एक स्वाभाविक गाम्भीर्य्य उत्पन्न कर देता है। यही गाम्भीर्य्य 'मद' है। इस मद को सुरक्षित रखने के लिए इसे गजनिमीलिका-न्याय का आश्रय लेना पड़ता है। हाथी पर चींटियाँ रेंगती रहती हैं। हाथी आँखें खोलता-मीचता हुआ उनकी ओर से लापर्वाह रहता है। यही गजनिमीलिका वृत्ति है। कोई कुछ भी क्यों न कहता सुनता रहे, यह निष्ठावान् सदा अपने मद में मत्त रहता है। इसकी यह मत्सरवृत्ति (मगरमच्छपना) 'मात्सर्य्य' कहलाता है। इस प्रकार

काम-क्रोध-मोह–ये तीन धातु जहाँ भावुक के अतिथि बने रहते हैं, वहाँ लोभ-मद-मात्सर्य–ये तीन धातु इस निष्ठावान् के अतिथि बने रहते हैं। काम-क्रोध-मोहाविष्ट भावुक उदारता (फैय्याजी) के आवेश में पड़कर सदा दारिद्र्यदुःख का आस्वादन करता रहता है एवं लोभ-मद-मात्सर्याविष्ट निष्ठावान् अपनी स्वाभाविक कृपणता के कारण सम्पत्तिसुख का आस्वादन किया करता है।

निष्ठावान् मानव को (अपवाद स्थलों को छोडकर) आप शरीर से स्थूल-स्वस्थ पायँगे, उसमें मानसस्मृति का अभाव रहेगा, वह स्वार्थातिरिक्त देखा-सुना-पढा-लिखा–सब कुछ भूल जायगा। आप इसे सदा सीमित इच्छाओं का ही अनुयायी देखेंगे। इसका बाह्य-आचार व्यवहार सर्वथा रूक्ष प्राप्त करेंगे। इसका उत्तर रूखा होगा, भावना कटु होगी, दृष्टि भोंडी होगी। इस प्रकार निष्ठावान् में आप सब दोष ही दोष देखेंगे। परन्तु इसका सबसे बडा गुण यही होगा कि इसमें बुद्धयनुगता स्थितप्रज्ञता का समावेश रहेगा। इसी स्थिर धर्म्म के कारण यह कभी प्रत्यक्ष से प्रभावित न होगा, अतएव तत्काल-निर्णय नहीं करेगा। सुनेगा, समझेगा, मनन करेगा, आगा पीछा सोचेगा, तब कहीं निर्णय पर पहुँचेगा। जल्दी का काम इसकी दृष्टि में शैतान का काम होगा। अपनी विवेक बुद्धि के प्रभाव से यह सुखद परिणाम पर ही पहुँचेगा। निष्ठावान् मानव कभी किसी काम में विना परिणाम की मीमांसा किए अग्रणी नहीं बनता। वह आरम्भ करना नहीं जानता परन्तु, परिणाम पर पहुँचना जानता है। आरम्भ वह सदा दूसरों के आश्रय से करता है, समाप्ति का अधिष्ठाता स्वयं बन बैठता है। कहते हैं–'समझदार स्वयं नहीं पकाता, अपि तु, पकी पकाई खाता है।' आप निष्ठावान् से कुछ भी पूछ देखिए। तत्काल वह अपनी अज्ञता प्रकट कर देगा और कह देगा–'इस सम्बन्ध में उनसे पूछिए–वे इस विषय को पूरा समझते हैं।' निष्ठावान् के पास वाग्धारा नहीं है। है उसके पास

अन्तिम-ठोस-सफल निर्णय, अतएव निष्ठावान् के सब काम पूरे होते रहते हैं। निष्ठावान् परदोष को भी सदा अपना दोष स्वीकार करेगा। वह बोलेगा नहीं, ढोल नहीं बजावेगा, काम कर लेगा। जिस कार्य्य में ऐसा उत्तरदायी (जिम्मेवार) निष्ठावान् अगुआ बन जाता है-निश्चयेन कालान्तर में वह कार्य्य सफल हो जाता है। निष्ठावान् प्रत्यक्ष से प्रभावित नहीं होता-अपि तु, वह परिस्थिति के अनुसार चलता है, अतएव वह कभी धोखा नहीं खाता। पहले तो वह किसी पर श्रद्धा-विश्वास करता ही नहीं। यदि विवेक द्वारा किसी पर श्रद्धा-विश्वास कर लेता है, तो उसका परित्याग नहीं करता। यह समाज को देखता है-अपने स्वार्थ के लिए। समाज को छोड़ देता है-अपने स्वार्थ के लिए। निष्ठा के इस स्वरूपविश्लेषण के आधार पर हमें केवल निष्ठावान्-शुद्धस्वार्थी-स्वसुखनिमग्न-अतएव स्थूलकाय-आद्यन्त के सुखी जिम्मेवार ऐसे सर्वात्मना सफल मानव के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है—

१-स्वार्थी निष्ठावान् स्वप्रत्यय द्वारा सदा स्वावलम्बी बना रहता है।

२-यह निष्ठावान् दूसरों के लिए कुछ भी न बोलकर सदा अपना स्वार्थ साधन करता रहता है।

३-यह निष्ठावान् किसी का विश्वास न कर सबका विश्वासपात्र बना रहता है एवं स्वयं अपना ही विश्वास करता है।

४-यह निष्ठावान् सदा लाभ को ही देखता है एवं हानि का सदा अनुभव करता है, अतएव सदा लाभ में ही रहता है।

५-यह निष्ठावान् प्रत्यक्ष से कभी प्रभावित नहीं होता। इसके कान नहीं, आँख होती है, अतएव यह तथ्य पर पहुँच जाता है, अतएव यह कभी धोखा नहीं खाता।

६–यह निष्ठावान् मेधावी-तत्त्वज्ञ-शास्त्रमर्म्मज्ञ न होता हुआ भी स्वद्रष्टा होने से विद्वान् है।

७–यह विद्वान् निष्ठावान् शरीर-मन:-इन्द्रियादि से स्थूल है, किन्तु बुद्धि से सूक्ष्म है।

८–और यों यह विद्वान् निष्ठावान् लोकवैभवदृष्टया सदा सफलता से युक्त रहता हुआ सदा सुखी बना रहता है।

—ꕥ—

इस प्रकार भावुकता और निष्ठा के तारतम्य से मानव समाज के चार श्रेणिविभाग किए जा सकते हैं। आरम्भ में जिन चार श्रेणी-विभागों का दिग्दर्शन कराया गया है, उनका विभिन्न दृष्टिकोण से सम्बन्ध है। उस दृष्टिकोण का समन्वय निष्ठावान् पाठक प्रस्तुत दृष्टिकोण से भी कर सकेंगे। लक्ष्य समान है, केवल भाषाशैली में विभेद है। यह है मानव-समाज के स्वरूप का दिग्दर्शन, जिसके आधार पर हमें हिन्दू-मानव की भावुकता का दिग्दर्शन कराना है—

मानवसमाजानुगता-विभागचतुष्टयी–(प्रकारान्तरेण)

१–१–अन्तर्भागे निष्ठायुक्त:, बहिर्भागे भावुकता-युक्त:–उभयनिष्ठ:–"नैष्ठिक:"–सद्बुद्धि: (कृतकृत्य:)–शान्त:, सुखी।

२–अन्तर्भागे भावुकतायुक्त:, बहिर्भागे निष्ठा-युक्त:-उभययुक्त:–'निष्ठावान्'–दुष्टबुद्धि: (मदोन्मत्त:) अशान्त:, सुखी।

३–अन्तर्बहिर्भागे विशुद्ध–भावुकता-युक्त:–निष्ठाच्युत:–"भावुक:"-बुद्धिहीन: (दु:खी)–अशान्त:, दु:खी।

४–अन्तर्बहिर्भागे विशुद्धनिष्ठा-युक्तः–निष्ठायुक्तः–"निष्ठः"–बुद्धिमान् (सुखी)–अशान्तः, सुखी ।

—※—

२–१–नैष्ठिकः-सद्बुद्धिः–सर्वकालानुगामी–विद्यानुगतो बुद्धिमान्-पण्डितः –इह, परत्र च सुखी ।

२–निष्ठावान्-दुष्टबुद्धिः-भूतभविष्यदनुगामी-बुद्ध्यनुगतो विद्यावान्-धूर्त्तः–इह सुखी, परत्र दुःखी ।

३–निष्ठाच्युतः-बुद्धिहीनः-भूतकालानुगामी-केवलविद्यायुक्तो विद्वान्-मूर्खः–इह परत्र च दुःखी ।

४–निष्ठायुक्तः-बुद्धिमान्-भविष्यत्कालानुगामी-केवल बुद्धियुक्तो मूर्खः-विद्वान्–इह सुखी, परत्र दुःखी ।

—※—

३–१–पण्डितः-नैष्ठिकः-धर्म्मप्रधाननीतिमार्गानुयायी-शान्तः ।

२–मूर्खः-निष्ठावान्-नीतिप्रधानधर्म्ममार्गानुयायी-आकुलः ।

३–मूर्खः-भावुकः-केवलधर्म्ममार्गानुयायी-व्याकुलः ।

४–विद्वान्-निष्ठः-केवलनीतिमार्गानुयायी–क्षुब्धः ।

—※—

प्रदर्शित वर्गीकरण से पाठकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि तत्त्वदृष्टि से चार विभागों में से केवल नैष्ठिक-सद्बुद्धि मानव ही वास्तविक कल्याण का भोक्ता बनता है, अतएव भारतीय मानव-धर्म्मशास्त्र ने धर्म्मानुगत नीतिसम्मत पथ को ही मानव के लिए श्रेयःपन्था माना है एवं ऐसे ही पथ को 'मानवधर्म्म' कहा है–जिसका तात्त्विक विश्लेषण वेदशास्त्र में

हुआ है। यह इस देश का दुर्भाग्य है कि इसने स्वाभाविक भावुकता में पड़कर कुछ एक शताब्दियों से वेदशास्त्र का तात्त्विक (वैज्ञानिक) अध्ययन विस्मृत करते हुए मानवधर्म्म की उस सर्वोच्च निष्ठा को भुला दिया है।

मानव स्वभावत: सामाजिक प्राणी है। यह सामाजिकता भी इस मानव की मनोऽनुगता स्वाभाविक भावुकता को उत्तेजित करती रहती है। 'जिस राज में रहना, हाँजी हाँजी कहना'–के अनुसार सामाजिक बाह्य प्रदर्शनों का अनुगमन करते हुए मानव को गतानुगतिक बना रहना पड़ता है। इसी आधार पर–'यद्यपि सिद्धं, लोकविरुद्धं (चेत्) नाचरणीयम्'–सूक्ति प्रसिद्ध हुई है। निवेदन का अभिप्राय यही है कि भावुकता पहले तो स्वाभाविक है, दूसरे इसे सामाजिक बल मिलता रहता है। तीसरा सबसे बडा कारण है संघर्ष का अभाव। यदि तीनों कारण एक साथ मिल जाते हैं तो वह भावुकता दृढमूल बन जाती है एवं उस स्थिति में उस मानवसमाज को दु:खकारणभूता भावुकता से बचाना असम्भव हो जाता है। जीविका की सुगमता जहाँ भावुकता को सुरक्षित रखती है, वहाँ जीविका की दुर्गमता भावुकता पर प्रहार करती रहती है। इस दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाकर ही हमें हिन्दू मानव की भावुकता का समन्वय करना है। हिन्दू मानव जिस भारतभूमि में जन्म लेता है, उस भारतभूमि में जीवनयात्रा के उपयुक्त अन्न-वित्तादि सम्पूर्ण साधन प्रचुरमात्रा से विद्यमान हैं। इस देश को जीवननिर्वाह के लिए अन्य देश से संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं होती। अपेक्षित सभी साधन इसे जब सहज में यहीं प्राप्त हो जाते हैं तो क्यों यह अन्य देशों के साथ संघर्ष करे? इसके अतिरिक्त भारतवर्ष की जाति-प्रणाली ने भी बहुत अंशों में हिन्दू-मानव की जीबिका के प्रश्न को सुगम बना रखा है। तत्तद् जातिविशेष के वहाँ जीविका मूलक तत्तत् कर्म्मविशेष (पेशे) पहले से ही नियत रहते हैं, अतएव तत्तज्जाति-विशेष में उत्पन्न तत्तज्जातिविशेष का हिन्दू बालक तत्तज्जाति-विशेष के लिए पहले से ही नियत तत्तत् कर्म्मविशेष को जीविका निर्वाह के लिए नियत समझता हुआ निश्चिन्त बन जाता है। फलस्वरूप उसे

संघर्ष में आने का अवसर ही नहीं मिलता। प्रसिद्ध है कि–'बाह्मन का बेटा है, और कुछ नहीं तो सोने का कटोरा उसके हाथ में है–माँगकर ही अपना पेट भर लेगा।' प्रत्यक्ष में देखा सुना जाता है कि कोई ब्राह्मण पढना-लिखना और माँग खाना छोडकर यदि किसी व्यापार में प्रवृत्त हो जाता है तो वह निन्द्य मान लिया जाता है। स्वयं हिन्दूशास्त्र ने भी वर्णानुगत नियत कर्म्म का ही समर्थन किया है।

यहीं हिन्दूशास्त्र के सम्मुख एक भयानक प्रश्न उपस्थित हो जाता है। क्या हिन्दूशास्त्र यह नहीं जानता था कि यदि जातिवर्णानुसार जीविका के साधन निश्चित कर दिए जाएँगे तो समाज संघर्ष से बचा रहता हुआ भावुक बन जाएगा एवं यह भावुकता ही कालान्तर में इसे संघर्ष में पड़ी हुई अन्य जातियों के द्वारा नष्ट करा देगी ? हिन्दूशास्त्र सब कुछ जानता था, जान रहा है और सदा जानता रहेगा। उसने अपने एक ही राष्ट्र में रहने वाली विभिन्न जातियों को पारस्परिक संघर्ष से बचाने के लिए वर्ण-जात्यनुसार उनके कर्त्तव्य-जीविका-साधन निश्चित करते हुए जहाँ राष्ट्र की स्वरूपरक्षा की, वहाँ उन्हीं हिन्दूशास्त्रों ने वैय्यक्तिक विकास के लिए संघर्षानुगता आश्रमव्यवस्था का भी निर्म्माण किया। समाजमूलक राष्ट्र की सुव्यवस्था के लिए जहाँ उसने जाति-धर्म्म व्यवस्थित किया, वहाँ व्यक्तिमूलक विकास के लिए आश्रम-धर्म्म को अनिवार्य्य बनाया। जन्म से २५ वर्ष तक शीतातप सहते हुए कष्टमय जीवन द्वारा ज्ञानार्ज्जन, २५ से ५० तक गृहस्थ जीवन का उत्तरदायित्व पूर्ण संघर्ष, ५० से ७५ तक पुनः वानप्रस्थानुगत संघर्षमय जीवन, ७५ से १०० वर्ष तक तपोनिष्ठा लक्षण संघर्ष का अनुगमन। इस प्रकार आरम्भ से अन्त तक जीवन को संघर्षमय बनाया गया, जिस जीवनव्यापक संघर्ष में आकर कोई भी मानव भावुक नहीं बना रह सकता। वर्णानुगत स्वकर्त्तव्यनिष्ठा एवं आश्रमानुगत कर्त्तव्य-निष्ठा से बढकर जीवन के लिए अन्य उत्कृष्ट संघर्ष का मिलना असम्भव है। जीविकोपार्ज्जन-साधनों की निश्चिन्तता ने जहाँ हिन्दू-मानव को भावुक

बनाया था, वहाँ जीवन-कर्त्तव्य-निष्ठा की दृष्टि से इसे निष्ठावान् बनाया था। भावुकता के द्वारा जहाँ इसका राष्ट्रीय संगठन संघर्ष से बचता हुआ शान्त-समृद्ध था, वहाँ निष्ठा के द्वारा इसका राष्ट्र आततायियों के दलन में पूर्ण समर्थ था। इस प्रकार हिन्दूशास्त्र ने हिन्दू-मानव के सम्मुख उभय-निष्ठा का आदर्श रखते हुए इसे सर्वश्रेष्ठ-कृतकृत्य मानव बनाया था। "हिन्दू-शास्त्र का यह प्रयोग केवल आदर्श की ही वस्तु रहा होगा, व्यवहार में कभी ऐसा न हुआ होगा"—इस प्रकार की कल्पना करने वाले वर्णाश्रम-व्यवस्थाओं को निर्म्मल-अव्यवहार्य्य सिद्ध करने वाले वर्त्तमान युग के भावुक समालोचकों को वर्त्तमान में हम कैसे सन्तुष्ट करें, जबकि वर्त्तमान में वर्णाश्रमव्यवस्थाएँ हीं अव्यवस्थित हो रही हैं। परन्तु उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए कि जिन दृढतम राजसत्तात्मक युगों में दण्डभय के द्वारा हिन्दू-शास्त्र की ये व्यवस्थाएँ सुव्यवस्थित थीं, उन युगों में भारतराष्ट्र और उसका मानवसमाज अभ्युदय-निःश्रेयस के परम उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ था। वे ही इस देश के स्वर्णयुग थे, जिनका आभास हमें निम्नलिखित ऐतिह्य उद्गारों से हो रहा है—

"स ह (कैकेयः) प्रातः संजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्य्यः, न मद्यपः, न-अनाहिताग्निः, न-अविद्वान्, न स्वैरी, स्वैरिणी कुतः।"

(छान्दोग्य उप० ५।११।५।)

"मेरे राज्य में एक भी चोर नहीं, एक भी कृपण नहीं, एक भी शराबी नहीं; एक भी अनाहिताग्नि नहीं, एक भी मूर्ख नहीं। एक भी व्यभिचारी नहीं, फिर व्यभिचारिणी कहाँ से मिले" राजर्षि अश्वपति-कैकेय महाराज के ये उद्गार क्या हिन्दूशास्त्र की सर्वोत्कृष्ट व्यावहारिकता का, सफलता का समर्थन नहीं कर रहे ? यथार्थ स्थिति तो यह है कि मन की स्वाभाविक भावुकता के निरोध के लिए, उसे कर्त्तव्यनिष्ठ बनाए रखने के लिए सदा दण्डभय अपेक्षित रहता है। विना दण्डभय के तो एक बालक

को शिक्षा में भी सफल नहीं बनाया जा सकता। इसी दण्डमय के सञ्चालन के लिए हिन्दूशास्त्रों ने एकेश्वरवाद के ग्राधार पर राजसत्ता स्थापित की। राजा कहीं इस सत्ता का मावुकता में पड़कर स्वस्वार्थ-साधन में उपयोग न कर बैठे, इसके लिए मावनामय धर्मदण्ड को सर्वोपरि माना गया ग्रौर इस धर्मदण्ड के सम्बन्ध में–'तस्माद् धर्म्मं परमं वदन्ति'–यह सिद्धान्त स्थापित किया गया। यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि जब जब वेननहुषादि भारतीय राजाग्रों ने इस दण्ड को स्वार्थसाधक बनाने की चेष्टा की, तब तब ही तत्कालीन धर्म्माचार्य्यों ने, समाजशास्त्रियों ने धर्म्मदण्ड के द्वारा उनका सर्वात्मना पराभव कर मानवनिष्ठा का संरक्षण किया। दुर्भाग्य से ग्राज भारतवर्ष के हाथ में दण्डसत्ता नहीं रही। इस दण्डशैथिल्य से धर्म्मदण्ड भी हतप्रभ बन गया। फलस्वरूप हिन्दूशास्त्र के द्वारा उद्भवित मानवधर्म्मानुगता कर्त्तव्य-निष्ठा की ग्रोर भारतीय हिन्दू-मानव उदासीन बन गया।

आगे चलकर सन्तमत के दुःखपूर्ण इतिहास ने इस उदासीनता को ओर भी ग्रधिक प्रोत्साहित किया। हिन्दू-मानव को स्वार्थसाधन सन्तों ने त्याग का पाठ पढाना आरम्भ किया। क्योंकि इसके त्याग से ही तो उनका स्वार्थ-साधन सम्भव था। इसे पदे पदे ग्रव्यवहार्य्य, ग्रमर्य्यादित, नीतिविरुद्ध -सत्य, दया, करुणा का पाठ पढाया गया ग्रौर यों भावुक हिन्दूमानव अपने निष्ठाप्रवर्त्तक ग्रार्षधर्म्म को भुलाकर भावना-प्रवर्त्तक सन्तमत का ग्रनुगामी बन गया। इसका नीतिपथ-तदनुगत निष्ठापथ इसके हाथ से कुछ तो छीना सन्तमत ने ग्रौर रहा सहा छीना संघर्ष-जीवनपथानुयायी निष्ठावान् ग्राक्रमणकारियों ने। यों सर्वस्व खोकर संघर्षात्मक जीवन से सर्वथा पृथक् होता हुग्रा अतीत का निष्ठावान् भी हिन्दूमानव वर्तमान का विशुद्ध भावुक मानव बना रह गया। कहना न होगा कि इसी भावुकता ने इसके हाथ से साम्राज्य छीना, ग्रामस्वाधीनता छीनी, कौटुम्बिक शान्ति छीनी, वैय्यक्तिक विकास छीना। सुरक्षित रक्खे इस भावुकता ने इसके पास दीनता, दया, भय, परावलम्बनत्व, जिनका एकमात्र परिणाम दुःख ही हुग्रा करता है।

हिन्दू स्त्री अपने पति से कहती है, विदेश मत-जाना। अपने तो यहीं रूखा-सूखा जो कुछ मिलेगा, खा-पीकर सन्तोष कर लेंगे। पिता पुत्र को विदेश भेजता इसलिए डरता है कि कहीं असहायावस्था में उसके कुछ हो न जाय। माता शिशु को लेकर इसलिए बाहर नहीं निकलती कि कहीं उसके नजर न लग जाय। पड़ोसी पड़ोसी की मदद इसलिए नहीं करता कि कहीं उसकी स्वाभाविक शान्ति में विघ्न न आ जाय। हिन्दू-मानव की वर्तमान जीवनधारा पर दृष्टि डालिए आप देखेंगे कि हिन्दू-मानव का जीवन अथ से इतिपर्य्यन्त तथाकथितरूप से सर्वथा संघर्षशून्य, अतएव निस्तेज मिलेगा। इस संघर्षशून्य-निस्तेज-निरावलम्ब भावना, किंवा भावुकता का ही यह परिणाम है कि साम्राज्य-राज्य आदि की कथा तो दूर रही यह अपने और अपने परिवार को भी संघर्षानुयायी निष्ठावानों से सुरक्षित नहीं रखने पाता। आज हिन्दू-मानव अपने देश-अपने घर में रहता हुआ भी आगन्तुक अतिथियों से दुःखी है, भयत्रस्त है। कैसी है–यह भावुकता और कैसा है इसका सत्पात्र (?) भावुक हिन्दू-मानव।

तुलनात्मक प्रसङ्ग की दृष्टि से उन निष्ठाशील जातियों के जीवन पर भी दृष्टिपात कर लीजिए, जिनका जीविकोपार्ज्जन साधन सर्वथा अनिश्चित है, अतएव जो जातियाँ संघर्ष द्वारा स्वावलम्बिनी बनती हुई प्रगतिशील हैं। उस जाति का एक मानव, जिसके न जागीर है, न कुलक्रमानुगत कोई जीविका का ही साधन है, न अपना देश है, न दान-दया-कृपा का ही वह अधिकारी माना जाता–स्वयं मार्ग में खड़ा हो जाता है और अपने भावुक बालक को आदेश देता है कि देखो ! सामने से अभी जो एक धनिक गया है, उसकी जेब कतर लाओ। हाँ देखना ! डरना नहीं। बालक जाता है, सफल होकर लौट आता है। भावुक बालक पिता के भय से यह काम तो कर डालता है, परन्तु उसे भय होता है कि यदि उस धनिक को मेरा पता लग गया, तो मुझे जेल जाना पड़ेगा। निष्ठावान् पिता बालक की इस भावना को ताड़ लेता है और उसे सदा के लिए निर्भय बनाने की

कामना से उसे लेकर चोरी के द्रव्य के साथ पुलिस थाना पहुँचता है। वहाँ कहता है, कोतवालजी! मेरे इस नासमझ लड़के ने अमुक की यह चीज चुराली है। आगे यह ऐसा न करे, इसके लिए इसे जेल भेज दीजिए। कोतवाल इस पिता की स्पष्टवादिता से प्रभावित होकर लड़के को जेल भेज देता है। लड़का जेल काटकर वापस आता है, जेल का भय सदा के लिए उसके अन्तःकरण से निकल जाता है और वही लड़का कालान्तर में बन जाता है–महा निष्ठावान्। उदाहरणमात्र है। जिन जातियों के जीविका के साधन अनिश्चित हैं, वे सब इसी प्रकार संघर्ष में पड़कर निष्ठाशील बनी रहती हैं और इसी निष्ठा के बल पर भावुक जातियों का दलन कर वे जातियाँ अग्रसर होती रहती हैं। हिन्दूजाति सम्पूर्ण साधनों के रहने पर भी क्यों दिन-दिन पददलित होती जा रही है? इतर जातियाँ साधन-सुविधाओं के न रहने पर भी क्यों दिन-दिन अग्रेसर बनती जा रही हैं? प्रश्नों का यही रहस्य है। मानव को सर्वप्रथम हँसते-हँसते मरने का पाठ पढाने वाली हिन्दूजाति स्वयं मर मिटना भूल गई, याद रहा इसे केवल जीवित रहना, इसीलिए आज यह मरती जा रही है। उधर मरने से भय करने वाली जातियाँ संघर्ष में पड़कर जीना भूल गईं, याद रहा उन्हें केवल मर मिटना, इसीलिए आज वे जीवनपथ पर आरूढ हैं। हिन्दू-जाति के भावुकतानुगत सम्पूर्णगुण स्वयं हिन्दूजाति के लिए जहाँ दोष बने, वहाँ वे ही गुण अन्यजातियों के लिए गुण बनकर उनको जीवित रखने लगे। हिन्दूमानव की भावुकता ने ही तो संघर्षजीवी निष्ठावानों के जीविका-साधन सुरक्षित बना रक्खे हैं। परन्तु स्मरण रहे, यह हिन्दू मानव का उपकार नहीं है। अपि तु, है यह एकमात्र उन बुद्धिशाली निष्ठावानों का बुद्धिकौशल, जिसकी प्रतिद्वन्द्विता में आज का भावुक हिन्दू-मानव खड़ा रहने में सर्वथा असमर्थ बन रहा है। भावुक अतएव मूर्ख हिन्दूमानव ने दूसरों की कमजोरी से लाभ न उठाकर उनकी अपेक्षा की। इतर निष्ठावान्, अतएव बुद्धिमान् इतर मानवों ने हिन्दू-मानव की कमजोरी से पूरा-पूरा लाभ उठाया। कैसे? उदाहरण द्वारा समन्वय कीजिए।

भावुक हिन्दूजाति विदेशी अतिथियों के आगमन से भयत्रस्त बनी। इस भावुक को और किसी बात का भय न था। 'कोऊ हो नृप, हमें का हानि' की भावनावाले को और भय हो भी क्या सकता है? भय उसे हुआ केवल अपने भावनाप्रधान धर्म्म का जो भावुकतापूर्ण भारतीय धर्म्म नीति-पथ की उपेक्षा करता हुआ अतएव अमर्य्यादित बनकर पूर्वविश्लेषणानुसार अधर्मरूप से इन भावुक भारतीयों के क्लेश का ही प्रवर्तक सिद्ध हो रहा था। भावुक में यह बल तो आये ही कहाँ से कि वह स्वयं अपनी किसी इच्छा को स्वयं प्रकट कर सके। इच्छा यह अवश्य रही कि भले ही ये अतिथि और सब कुछ ले लें, परन्तु हमारे धर्म्म में हस्तक्षेप न करें। निष्ठावान्-साहसी-नीतिविशारद-अतिथियों ने भारतीयों की इस भावुकता बनाम निर्बलता का अपनी तीक्ष्ण-दृष्टि से निरीक्षण किया। इन्हें तो मानो विना ही प्रयास के स्वर्ग-कपाट खुले मिल गए। इन्होंने तत्काल 'यह अनुभव और निर्णय कर लिया कि यही धर्म्मभावुकता इनसे पर्य्याप्त लाभ उठाने का मुख्य साधन है। फलस्वरूप इन अतिथियों के द्वारा घोषणा हुई कि 'हमारी सत्ता, हमारा राज्य आप-किसी के धर्म्म में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। आप निश्चिन्त होकर अपने धर्म्म का (ही) पालन करते जाइए।' भावुक भारतीयों ने इस घोषणा को उस समय ईश्वरीय वरदान समझा। उपकार माना इन अतिथियों का, बधाइयाँ दीं इन नीतिविशारदों को और यों भावुकता में पड़कर धर्म्म का नीति से सर्वथा पृथक्करण कर इन भावुकों ने सचमुच अपने सर्वनाश का आमन्त्रण स्वीकार करते हुए अपने आपको धन्य मान लिया। परिणाम इस भावुकता का जो कुछ हुआ और हो रहा है, आज इस भावुक-जाति के सामने है। परन्तु धन्य है हिन्दू-जाति की इस भावुकता को, जिसके अनुग्रह से सर्वस्व खोकर भी आज भी यह बडे अभिमान से यही कह-सुन रही है कि-'हमारी सभा का लक्ष्य तो केवल धर्म्मप्रचार है, राजनीति से तो हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है।' 'कालाय तस्मै नमः'। 'भारतीय हिन्दू-मानव और उसकी भावुकता' का यही दुःखपूर्ण इतिवृत्त है, जिसका स्वरूप मानवधर्म्म-प्रेमियों के सम्मुख रखने की चेष्टा की गई।

हिन्दू-मानव अपने इस इतिहास से किस तथ्य पर पहुँचेगा ? इसका उत्तर वर्तमान वातावरण में कुछ भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि हिन्दू-मानव की निष्ठा सर्वथा सुप्त हो चुकी है । क्या हम यह चाहते हैं कि संघर्ष में पड़ी हुई अन्य जातियों की भाँति हिन्दू-जाति भी संघर्ष में पड़कर अपनी भावुकता भुलाकर विशुद्ध निष्ठाशील बन जाय ? क्या हमारा यह अभिप्राय है कि पिता अपने पुत्र को निष्ठावान् बनाने के लिए उसे स्तेय कर्म्म की शिक्षा प्रदान करे ? क्या हम हिन्दू-मानव को उस निष्ठा का अनुगामी देखना चाहते हैं, जिस निष्ठा के द्वारा दुष्टबुद्धि अपना स्वार्थ साधन किया करते हैं ? नहीं, सर्वथा नहीं, स्वप्न में भी नहीं । संघर्ष आवश्यक है, निष्ठा भी उपादेय है । परन्तु भावुकता से वियुक्त संघर्ष और निष्ठा कालान्तर में उस संघर्ष करने वाले निष्ठावान् को ही खा जाते हैं । कहा जा चुका है कि जो जिसके आश्रय से उत्पन्न होता है वह उसी को खा जाता है । मानव के आश्रय से पुष्पित पल्लवित ऐसा संघर्ष एवं ऐसी निष्ठा कालान्तर में उसी को खा जाते हैं ।

इतिहास के पन्ने उलटिए । आप देखेंगे, सैंकड़ों जातियाँ यत्र तत्र प्रकट हुई । जीविका के साधन निश्चित न होने से वे संघर्ष में आई संघर्ष ने उन्हें निष्ठाशील बनाया । इसी संघर्षमूला निष्ठा के बल पर उन बलशालिनी जातियों ने नवीन साम्राज्य का निर्म्माण किया । उनकी अपनी स्वतन्त्र सभ्यता, स्वतन्त्र धर्म्म (मत) स्वतन्त्र आचार-व्यवहार बने । होते-करते वे जातियाँ उन्नति के चरम उत्कर्ष पर जा पहुँची । परन्तु देखा गया कि इसी संघर्ष ने इसी निष्ठागुण ने सुन्दोपसुन्दन्याय से परस्पर के संघर्ष के द्वारा उन जातियों को स्मृतिगर्भ में विलीन कर दिया । सच है जो जिसका गुण है, वही उसका दोष है । जो दुष्टतापूर्ण-संघर्षपूर्ण-भावुकताशून्य निष्ठा आरम्भ दशा में इन जातियों का गुण था, वही महत्त्वाकांक्षा के अनुग्रह से अमर्य्यादित बनकर लिप्सामय बनता हुआ दोष बन गया । इसी दोष ने अन्त में उनका संहार कर डाला ।

भावुकता जहाँ धर्म्मपथ है, वहाँ निष्ठा नीतिपथ है। दोनों का समन्वय रहता है संघर्ष के माध्यम से। इस ओर भावुकता, उस ओर निष्ठा मध्य में संघर्ष–यही स्वरूपरक्षा की विज्ञानानुमोदित वैज्ञानिक प्रणाली है। भावुकता अतीत की योग्यता का संग्रह करती है, निष्ठा भविष्य के परिणाम को लक्ष्य बनाती है। मध्यस्थ संघर्ष कर्तव्य-शिक्षण द्वारा वर्तमान-स्थिति को सम्भाले रहता है। इस प्रकार तीनों कालों का सम-समन्वय होता रहता है। यह समत्त्व ही बुद्धियोगात्मक वह कर्म्मकौशल है जिसके अनुगमन में कभी भय की, नाश की आशङ्का नहीं है। संघर्ष जहाँ नीति को सबल बनाता है, निष्ठा को उत्तेजित करता है, वहाँ संघर्ष के मूल में बैठा हुआ धर्म्म (भावुकता) संघर्ष को स्वनियन्त्रण में रखता हुआ इस नीति को अमर्य्यादित नहीं होने देता। वही संघर्ष जहाँ धर्म्म को सुरक्षित रखता है, धर्म्म को उत्तेजित करता है, वहाँ संघर्ष से सम्बद्ध नीति (निष्ठा) धर्म्म को नियन्त्रण में रखती हुई इस धर्म्म को अमर्य्यादित नहीं होने देती। इस पारस्परिक नियन्त्रण से धर्म्म और नीति, दोनों का स्वरूप भी सुरक्षित रह जाता है एवं महत्त्वाकांक्षा को भी अमर्य्यादित बनने का अवसर नहीं मिलता। भारतीय महर्षियों ने इसी समतुलन के आधार पर मानव-धर्म्म प्रतिष्ठित किया। हिन्दू-जाति के अणु-अणु में अन्तरान्तरीभाव से भावुकता (धर्म्म) और निष्ठा (नीति) प्रतिष्ठित कर दी गई। इसी दृढमूला भावुकतामिश्रिता निष्ठा ने इस जाति को अब तक सुरक्षित बनाए रक्खा। शत-शत शताब्दियों से चोट पर चोट सहते हुए भी यह जाति आज तक जीवित कैसे रह गई ?–का यही रहस्य है। उधर भावुकता-शून्य केवल संघर्षमूला नीति को प्रधानता देने वाली अन्य जातियाँ महत्त्वाकांक्षा पर संयम न रखने के कारण नष्ट हो गईं। केवल संघर्षमूला निष्ठा अथवा तो भावुकता को दास बनाए रखने वाली निष्ठा लिप्सापूर्ण घातक नीति कहलाई है। यही नीति हमारे यहाँ अनीति-अधर्म्म कहलाया है। शास्त्र कहता है अवश्य ही ऐसी निष्ठा-नीति (अधर्म्म) का अनुगामी निष्ठावान् स्वबुद्धिबल से आरम्भ

में सम्पत्तिसंग्रह में समर्थ बन जाता है। अवश्य ही वह साम्राज्यविस्तार में भी सफल हो जाता है। इस ऐश्वर्य्य के द्वारा वह बडे बडे प्रशस्त कार्य्य भी करता देखता है। अपने शत्रुओं का दर्पचूर्ण भी करता है। इस प्रकार निष्ठा द्वारा वह लोकवैभवानुगत सब कुछ प्राप्त कर लेता है। इसी दृष्टि से उसे पूर्ण सुखी भी मान लिया जा सकता है। परन्तु विश्वास कीजिए भावुकता तथा धर्म्मनियन्त्रण से बहिर्भूतनिष्ठानीति, अशान्ति के कारण बनते हुए हिन्दू-मानव के लिए सर्वथा उपेक्षणीय ही है। भले ही केवल भावुकता में रहकर वह नष्ट हो जाय, परन्तु इन दोनों मार्गों में से किसी के भी अनुगमन का समर्थन नहीं किया जा सकता, नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

> "अधर्म्मेणैधते पूर्वं, ततो भद्राणि पश्यति।
> ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति॥" (मनुः)

लोक में कहावत प्रसिद्ध है कि 'शेर भूखा रह जायगा, किन्तु बासी शिकार पर दृष्टि न डालेगा।' हम यह देखकर तृप्ति का अनुभव कर रहे हैं कि हिन्दूमानव आज अपनी इस दुरवस्था में भी इस कहावत को चरितार्थ कर रहा है। जिस हिन्दू-मानव ने भावुकतापूर्ण-सन्निष्ठा का-सद्बुद्धि का रसास्वादन कर लिया है–वह आज कैसे दुष्टतापूर्ण कुनिष्ठा को अपनावे? सन्निष्ठा, सद्बुद्धि हिन्दू-मानव का जन्मसिद्ध दायाद है। इस पैतृक सम्पत्ति को यह कैसे छोड दे? देख रहे हैं कि संघर्षजीवी केवल निष्ठावानों के सहवास में सदियों रहकर भी यह आज तक उनकी निष्ठा का न तो समर्थक ही बना एवं न कभी उस केवल निष्ठा का अनुगामी ही बना। वे उपदेशक भ्रम में हैं, जो हिन्दू-मानव से यह आशा रखते हैं कि 'वह हमारे उत्तेजनापूर्ण आदेशोपदेशों से अपनी सद्भावना, अपनी स्वाभाविक दया, करुणा छोडकर केवल निष्ठावान् बन जायगा' और हम तो इस सम्बन्ध में यह भी कहेंगे कि यदि कहीं सङ्गदोष के प्रभाव में आकर इस जाति ने भी अपनी भावुकता का परित्याग कर केवल निष्ठापथ को अपनाने की भूल

कर ली, तो इसकी वे जडें–जो पाताल तक पहुँची हुई हैं, उखड जायँगी एवं यह भी केवल निष्ठाशील अन्य जातियों की भाँति नष्ट हो जाएगी।

हिन्दू-मानव इस स्थिति में क्या करे? सर्वान्त में यह समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित हुई जिसका 'हमारी समस्या' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में विश्लेषण हुआ है। कौन कहता है कि हिन्दू-मानव निष्ठावान् नहीं, स्थित प्रज्ञ नहीं? कौन कहता है कि हिन्दू-मानव केवल भावुक है? किसका सामर्थ्य है कि जो इस उभयनिष्ठ सद्बुद्धि हिन्दू-मानव की ओर आँख उठाकर भी देख सके? कौन इस मिथ्या-भ्रम में पड़ा हुआ है कि हिन्दू-जाति नष्ट हो जाएगी? जाइए उन त्रैवार्षिक कुम्भपर्वों पर और देखिए हिन्दू-मानव की दृढ निष्ठा को। बिना किसी प्रचार-प्रेरणा के यात्रा कष्टों को हँसते हँसते सहते हुए हिन्दू-मानव असंख्य संख्या में वहाँ पहुँच जाता है और अपनी शाश्वत निष्ठा का परिचय देता है। आए दिन होने वाले पर्वोत्सवों का अनुगमन, तीर्थ-मठ-मन्दिरों के प्रति अनन्य श्रद्धा-विश्वास इस दरिद्रता में भी अप्रत्याशित आत्मसमर्पण। यह निष्ठा नहीं तो और क्या है? बुद्धिमान् कहेंगे कि ये तो निष्ठा के उदाहरण नहीं अपि तु, भावुकता के उदाहरण हैं। हम कहेंगे, भावुकता का चरम विकास ही तो निष्ठा है। बिना भावुकता के निष्ठा का उदय हो ही नहीं सकता। जिसे केवल निष्ठा कहा जाता है, वह भावुकताशून्या शुद्ध निष्ठा तो संघर्ष की एक अवस्था विशेषमात्र है। इसीलिए तो वैसी निष्ठा एवं वैसी निष्ठा के अनुगामी कालान्तर में ही नष्ट जाते हैं। इसी दृष्टिकोण से हम यह कह ही सकते हैं कि जिस भावुकता को हिन्दू-मानव का दोष बतलाया जाता है, वही उसकी चिरन्तन निष्ठा को सुरक्षित रखता हुआ गुण है; क्योंकि जो जिसमें दोष है, वही उसका गुण भी तो बन जाता है। निष्ठागर्भिता इसी भावुकता ने हिन्दू-मानव को सामयिक प्रवाहों से बचाते हुए इसे अद्यावधि जीवित रक्खा है और निश्चयेन यही निष्ठात्मिका भावुकता इसे भविष्य में भी जीवित

रक्खेगी । अन्तर्मुख निष्ठा के जागृत होने मात्र में विलम्ब है । जिस दिन इसको सुप्त निष्ठा जागृत हो पड़ेगी विश्व की यच्चयावत् संस्कृतियाँ काँप उठेंगी ।

इस वृद्धातिवृद्धप्रपितामह हिन्दू-मानव ने उपालम्भ देने वाले निष्ठा-वानों को अपने सामने जन्म लेते देखा । समृद्ध होते देखा, मरते देखा और फिर स्वयं अपने ही हाथों से इसने उनका श्राद्ध भी कर डाला । इसमें निष्ठा है, भावुकता है, बुद्धि है, विद्या है । पूर्णब्रह्म का उपासक हिन्दू-मानव सर्वात्मना पूर्ण था, पूर्ण है और पूर्ण रहेगा । अवश्य ही यह मान लेते हैं कि राजसत्ता के उच्चावचभावों के कारण इसकी पूर्णता वर्तमान में अन्त-र्मुखमात्र बन गई है । इसीलिए इसे चाहे जैसे कह सुन देने की भूल की जा रही है । हम हिन्दू-मानव से यही करबद्ध निवेदन करेंगे कि वह पर-दृष्टि के साथ-साथ स्वदृष्टि का भी अनुगमन करे । अपने आप पर दृष्टि डाले । देखे तो सही वह अपने आपको, अनुभव तो करे वह अपनी अन्तर्मुख-निष्ठा का ।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है–हिन्दू-मानव की निष्ठा का केन्द्र वर्तमान में भावुकतानुगत धर्म्म बन रहा है । दण्डभय के शिथिल हो जाने से, साथ ही जीविका-साधनों की अनिश्चिन्तता से परिणामतः अतएव अमर्य्यादित बनी हुई यही नीति, यही निष्ठा, यही अनीति-अधर्म्म, इसका समूल विनाश कर देते हैं, जिसके प्रत्यक्ष उदाहरण की आज भी कमी नहीं है । उभयनिष्ठ दुष्ट-बुद्धि निष्ठावान् एवं केवल निष्ठावान्–दोनों का नाश निश्चित है । अन्तर यही है कि उभयनिष्ठ थोड़ा चिरकालिक होता है क्योंकि वह मूल में आरम्भ में थोड़ी भावुकता भी रखता है । उधर केवल निष्ठावान् अपने जीते जी अपने विनाश का प्रत्यक्ष कर लेता है, क्योंकि उसमें भावुकता का प्रत्यन्ताभाव रहता है । पूर्व में मानव-समाज के जिन चार विभागों का दिग्दर्शन कराया गया था, उनमें से २-४ संख्यक इन दो विभागों का अन्तिम

परिणाम नाश ही है अतएव ऐसे दोनों ही निष्ठापथ देखने-सुनने के लिए सुख -साधक बनते हुए भी आत्मा से इसके भावुकतालक्षण धर्म्म ने निष्ठालक्षणा नीति का साथ छोड दिया है। कर्त्तव्योपेक्षा से इसके जीवन का वह संघर्ष शान्त हो गया है, जो धर्म्म और नीति का समतुलन रक्खा करता है। यह अतीत को देखता है, परन्तु संघर्ष न रहने से भविष्य की दृष्टि इसकी धुंधली बन गई है। संघर्ष के परित्याग से इसका वर्त्तमान भी धुंधला बन चला है। अन्तर्मुखनिष्ठा ही भावुकता है, यही धर्म्म है। बहिर्मुखनिष्ठा ही निष्ठा है, यही नीति है। इसकी भावुकता-लक्षणा अन्तर्मुख-निष्ठा निष्ठालक्षणा बहिर्मुखनिष्ठा बन जाय, यही कामना है। यह धर्म्मनीति को आगे कर अग्रेसर बने, यही कामना है। अपने धर्म्म को नीति के द्वारा यह मर्य्यादित बनावे, फलस्वरूप आततायी-दुष्ट-परस्वस्वापहरणकर्त्ता-दुर्बुद्धि निष्ठावान् इसकी धर्म्मगर्भिता नीति से दण्डित हो। **'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाबि-चारयन्'** का नैतिक सिद्धान्त पुनः जागरूक हो, यही कामना है।

कैसे यह कामना सफल हो? उत्तर है 'मानवधर्म्म की पुनःप्रतिष्ठा'। मानवधर्म्म कैसे पुनः प्रतिष्ठित हो? उत्तर है धर्म्म के वैज्ञानिक तथ्यों का प्रचार-प्रसार। वैज्ञानिक तथ्यों का प्रचार-प्रसार कैसे हो? उत्तर है वैज्ञा-निक साहित्य का अध्ययनाध्यापन।

॥ इत्यलं बहुना ॥

